UNIVERSITY OF CALICUT

SCHOOL OF DISTANCE EDUCATION

Study Materials

M.A.HINDI. Language and Literature
2001 - Admission onwards

Paper VI Literary Criticism

Prosody and poetics

Prepared by

Dr.K.V.Muralidharan Pillai
Reader in Hindi (Rtd)
'Vanamali'
P.O. Dharmadam
Thalassery-670 106

Copy Right Reserved

CUP/3009/05/1000/SDE-1

विषय -सूची

I. Essays. Part A

1. काव्य की परिभाषायें। 5
2. काव्य के प्रयोजन। 7
3. काव्य का विभाजन-वर्गीकरण। 8
4. महाकाव्य के लक्षण। 10
5. नाटक के प्रमुख तत्व। 11
6. 'उपन्यास' -की परिभाषा और तत्व। 14
7. कहानी की परिभाषा और तत्व। 15
8. एकांकी-कला और उसके तत्व। 17
9. साहित्य और समाज। 19
10. शब्द-शक्ति। 20

II. Short Answers - टिप्पणियाँः-

1. रस-विवेचन-रस निष्पत्ति। 23
2. रसावयव। 23
3. रसराज श्रृंगार। 24
4. शान्त और वात्सल्य रस। 25
5. रसात्मक उक्तियाँ। 25
6. काव्य में अलंकार का स्थान। 25
7. अलंकारों के भेद। 26
8. छन्द और उसके अवयव। 27
9. मुक्त छन्द। 28
10. भरत मुनि। 29
11. मुक्तक काव्य। 29
12. दश रूपक। 30
13. संकलन त्रय। 31
14. काव्य-दोष। 32
15 कला के विभिन्न प्रयोजन। 32

Part B:- Ancient Indian Literary Thoughts

Essays.

1. समीक्षा-समालोचनाःस्वरूप और परिभाषा । 33
2. आलोचना या समीक्षा के भेद- प्रकार। 34
3. भारतीय साहित्य की पुरानी आलोचना-पद्धतियाँ। 37
4. भारतीय समीक्षा के विभिन्न सिद्धान्त-संप्रदायः- 38

(1) औचित्य संप्रदाय। 38
(2) रीति संप्रदाय-गुण संप्रदाय। 39
(3) ध्वनि संप्रदाय। 40
(4) वक्रोक्ति संप्रदाय। 42
(5) अलंकार संप्रदाय। 43
(6) रस संप्रदाय। 44

टिप्पणियाँ:-

(1) साधारणीकरण। 47
(2) कवि-समय। 48
(3) कथानक रूढ़ियाँ। 48
(4) काव्य-हेतु। 48
(5) मधुमती भूमिका। 49
(6) वृत्तियाँ। 50
(7) वक्रोक्ति समद्धांत और अभिव्यंजनावाद। 51
(8) आलोचना की शुक्ल-पद्धति। 51
(9) आलोचना की शुक्लोत्तर पद्धति। 52

Part C- Western Literary Thoughts

Essays:-

1. प्लेटो। 53
2. अरस्तू-(त्रासदी, कामदी-टिप्पणियाँ)। 55
3. लोंजइनस (लोंगिनस)। 59
4. लियो तॉलस्तॉय। 59
5. ऐ.ए. रिचर्डस। 60
6. टी.एस इलियट। 61
7. क्रोचे। 63
8. टिप्पणियँ :- 64
   (1) विलियम वर्डसवर्थ। 64
   (2) कॉलरिज। 65
   (3) मैथ्यू आर्नल्ड। 65
   (4) क्लासिज़्म। 66
   (5) रोमान्टिसिज़्म। 67
   (6) प्रतीकवाद। 68
   (7) अस्तित्ववाद। 68
   (8) अतियथार्थवाद। 69

Model Question Paper

Paper VI Literary Criticism, prosody and poetics.

PART-A. Poetics and prosody - 45 Marks

Essay Type questions:

1. भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य की जो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, उनमें से प्रमुख का उल्लेख कीजिए और उनके आधार पर स्वयं काव्य की एक परिभाषा लिखिए।

कवि - कर्म के दो पक्ष हैं-विषय -विशेष का अनुभव करना और उसको सुचारु रूप में अभिव्यक्त करना। प्रथम काव्य का आन्तरिक गुण है जिसे अनूभूति या भाव पक्ष कहते हैं। दूसरा काव्य का बाहय गुण है जिसे अभिव्यक्ति या कलापक्ष कहते हैं। काव्य के इन दो पक्षों के आधार पर कवियों के भी दो वर्ग होते हैं। एक वर्ग आन्तरिक गुण याने भावपक्ष पर बल देता है तो दूसरा वर्ग कला पक्ष पर। कवियों का समन्वयवादी वर्ग प्रथम को काव्य का आवश्यक पक्ष मानते हुए भी दिवतीय की उपेक्षा नहीं करता ।

काव्य इतनी विशाल और विचित्र वस्तु है कि उसको एक दो वाक्यों की परिभाषा में बाँध देना बहुत कठिन है। पहले यहाँ भारतीय विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का उल्लेख किया जायेगा। आचार्य भामह के अनुसार "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" कहलाता है। अर्थात, शब्द और अर्थ का सहित होना काव्य प्रकाशकार मम्मट ने काव्य की विस्तार से परिभाषा दी है- "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनःक्वपि" । वे शब्द और अर्थ जो दोषरहित हों, माधुर्य आदि गुणों से युक्त हों और जिनमें कहीं-कहीं चाहे अलंकार न भी हों, काव्य कहलाते हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- "वाक्यं रसात्मकं काव्यम"। अर्थात् जिस वाक्य में पाठक या श्रोता के हृदय में रस -संचार करने की शक्ति हो वह काव्य कहा जायेगा। रस से अभिप्राय है श्रृंगार, करुण, वीर आदि रस। यहाँ आचार्य की दृष्टि काव्य के दोनों पक्षों पर है; क्योंकि 'रस' का संकेत भाव पक्ष की ओर है और 'वाक्य' का कलापक्ष की और। पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य को रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द कहा है- "रमणीयार्थःप्रतिपादकःशब्दःकाव्यम"। इस परिभाषा का संबन्ध स्थूल रूप से तो काव्य के दोनों पक्षों से है। रमणीय का अर्थ है हृदय में आनन्द का उदय करनेवाला। 'ध्वनि' , 'वक्रोक्ति' आदि को काव्य की आत्मा मान कर परिभाषायें भी दी गयी हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं में व्यक्त विचारों का समन्वय करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तवस्था ज्ञान -दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस -दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना केलिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे 'कविता' कहते हैं"। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने काव्य को आत्मा की वस्तु मान कर उसमें सत्य और सौन्दर्य के मिश्रण पर बल दिया है। उनके शब्दों में- "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है,जिसका संबन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में 'कविता हमारे संपूर्ण क्षणों की वाणी है'। महीयसी महादेवी के अनुसार 'कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है'। भावुक महाकवि तुलसीदास की उक्ति भी उल्लेखनीय है-

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"। तात्पर्य यह है कि जो संबन्ध जल और वीचि का है, वही शब्द और अर्थ का समझना चाहिए। काव्य में शब्द और अर्थ का अभिन्न संबन्ध है। काव्य की उत्पत्ति इन दोनों के संयोग से ही होती है।

पाश्चात्य विद्वान भारतीय आचार्यों की तरह काव्य के दो पक्ष न मानकर उसके चार तत्व मानते हैं-भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली। कॉलरिज ने काव्य को 'उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान' कहा है - poetry the best words in the best order. इस परिभाषा में शैली अर्थात् कलापक्ष की प्रधानता पर बल दिया गया है। चैम्बर्स साहब लिखते हैं - "poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination" - मधुर शब्दों में भाव प्रसूत और कल्पना प्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता कहते हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि तथा आलोचक षेंली के अनुसार "कल्पना का प्रकट करना सामान्य रूप से कविता कहलाता है"। शेक्स्पियर भी शोली की तरह कविता में कल्पना की ही प्रधानता मानते हैं। डा.जॉनसन के शब्दों में "कविता छन्दोबद्ध रचना है और यह वह कला है जो कल्पना से बुद्धि की सहायता करके आनंद को सत्य से मिलाती है"। प्रसिद्ध समालोचक ड्राइडन कहते हैं - "आनन्दप्रद रीति से शिक्षा देना काव्य का साधारण उद्देश्य है। दर्शन शास्त्र भी शिक्षा देने का काम करता है, पर वह यह काम उपदेश के बल पर करता है जो प्रिय नहीं लगता"। प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ ने काव्य को 'प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक कहा है, जिसका स्रोत शांति के समय में स्मृत मनो वेगों से फूटता है' - 'poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings: it takes its origin from emotion recollected in tranquility'. इस परिभाषा में भी काव्य के अनुभूति पक्ष पर ध्यान दिया गया है।

मैथ्यू आरनल्ड काव्य के भाव पक्ष को प्रधान मान कर उसे 'जीवन की आलोचना' मानते हैं -poetry is at bottom a criticism of life. उसकी सम्मति में, काव्य का जीवन से संबन्धित होना आवश्यक है। यह उक्ति भी काफी प्रचलित है - 'poetry is the sister of sorrow, every man that suffers and weeps is a poet, every tear is a verse, and every heart a poem'. अतः काव्य दुख की बहन है, प्रत्येक मनुष्य जो दुख सहता है और रुदन करता है कवि है, प्रत्येक आँसू काव्य है, और प्रत्येक हृदय एक कविता है।

इस प्रकार काव्य संबन्धी कई परिभाषायें निकली हैं। कविता को किसी परिभाषा की कैद में बाँधना कठिन है। स्वर्गीय डी.एल. राय ने काव्य को एक और ढंग से समझाया । उनके अनुसार 'कविता क्या है' यह न कह कर 'कविता क्या नहीं है' कहना बहतरीन है। विज्ञान से कविता पृथक है। विज्ञान की भित्ति बुद्धि है, कविता की भित्ति अनुभूति है। विज्ञान का जन्मस्थान मस्तिष्क है, कविता की जन्म भूमि हृदय है। विज्ञान का राज्य सत्य है, कविता का राज्य सौन्दर्य है। कविता के पवित्र राज्य में वैज्ञानिक के प्रवेश का निषेध है। कविता की कोई ऐसी परिभाषा नहीं हो सकती जिसमें कविता के स्वरूप की वास्तविक झलक मिल जाये। कविता की परिभाषा के ऊपर किसी महापुरुष का यह वचन पूर्ण रूप से सार्थक निकलता है - "If not asked I know, if ask I know not - यदि न पूछो तो मैं जानता हूँ; यदि पूछो तो मैं नहीं जानता" ।

संक्षेप में काव्य की सीधी - सादी और सरल परिभाषा यह हो सकती है - जो भाव अथवा अनुभूति स्थिति - विशेष में सूचारु रूप में अभिव्यक्त हो कर कवि के हृदय को तोष प्रदान करती और सहृदय को रसमग्न करती है, वही काव्य है। इस परिभाषा में काव्य के दोनों पक्षों को समान महत्व तो दिया ही गया है। भाव आत्मा है तो भाषा शरीर है।

(2). भारतीय समीक्षा - शास्त्रियों के अनुसार काव्य के प्रयोजन क्या-क्या हैं? या काव्य के उद्देश्य क्या-क्या हैं?

जिस प्रकार मनुष्य की सारी करनी का कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य अवश्य रहता है उसी प्रकार काव्य-रचना भी निरुद्देश्य नहीं। भारतीय समीक्षा शास्त्रियों ने काव्य के प्रयोजन या उद्देश्य के संबन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार किया है-एक, कर्ता के दृष्टिकोण से और दूसरा, पाठक के दृष्टिकोण से। कर्ता के दृष्टिकोण से काव्य के प्रयोजन संबन्धी विचारों को दो वर्गों में रखा जा सकता है-एक, प्राचीन भारतीय समीक्षा - शास्त्रियों के अनुसार और दूसरा, आधुनिक समीक्षकों के अनुसार। प्राचीन समीक्षा शास्त्रियों में आचार्य मम्मटने काव्य के छह प्रयोजन बतलाये हैं:-

"काव्यं यशसे अर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये।

सध्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे" ।

क) यश-प्राप्तिः-काव्य-रचना करने से कविवरों को दुनिया में बडा यश मिलता है। यह यश जरा-मरण से रहित है जो कवि की कृति का यथोचित पुरस्कार है। अपनी कृति के द्वारा कवि या लेखक अमर हो जाता है। तुलसीदास, जयशंकर प्रसाद आदि को हम इसलिए अब भी याद करते हैं कि उन्होंने क्षेष्ठकाव्यों की रचना की थी।

ख) धन-प्राप्तिः-काव्य रचना धनार्जनोपाय है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कविवरों को अच्छी कृतियों पर बहुत-साधन मिलता था। छत्रपति शिवाजी ने खुश हो कर कवि भूषण को 19 गाँव और 19 लाख रुपये दे दिये थे। अब भी अच्छी - अच्छी साहित्यिक कृतियों को नोबेल पुरस्कार दिया जाता है। यह दुसरा प्रयोजन द्रव्यार्जन बताया गया है। पर यह गैण तत्व है। कवि को लौकिक द्रव्य की अपेक्षा अपने भाव-रत्नों की मंजूषा पर विशेष गर्व होता है। यदि कवि केवल धन की प्राप्ति केलिए रचना करता है तो उसके प्रभाव में अंतर हो जाता है। साहित्य के इतिहास में द्रव्य-हेतु रचना करने वाले राजाश्रित कवियों के नाम तो मिलंते हैं। पर अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्होंने राज-सम्मान को भी अपने अंह की रक्षा केलिए ठुकरा दिया। अतः धन काव्य का प्रयोजन नहीं, माध्यम मात्र हो सकता है।

ग) व्यवहार-ज्ञानः-सांसारिक व्यवहार, रीति-नीति का उपदेश भी काव्य का प्रयोजन हे। इस प्रकार दिया गया उपदेश प्रभावशाली भी होता है। अनेक कवियों नें काव्य की रचना उपदेश केलिए की थी। बिहारी ने एक दोहे के द्वारा राजा जयसिंह को जो शिक्षा दी थी, वह तो प्रसिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त काव्य में वर्णित आदर्श सामान्य पाठक को व्यवहार-ज्ञान की शिक्षा तो सरलता से देते ही हैं।

घ) कल्याण (शिवं):-काव्य द्वारा मंगल-विधान करना काव्यकार का मुख्य प्रयोजन है। मनुष्य सदा कल्याण की वृद्धि और अकल्याणकारी तत्वों का नाश चाहता है। अनेक कवियों ने काव्य के माध्यम से सामाजिक कल्याण का महान कार्य किया है। महाकवि तुलसीदास का तो यह आदर्श ही था-

'कीरति भनिति भति भलीसोइ

सुरसरि सम सब कर हित होई'। शिवं की रक्षा के उद्देश्य से लिखा गया काव्य ही स्थायित्व प्राप्त कर सकता है।

ड) परम निर्वृति की प्राप्तिः- काव्य के द्वारा दुःख, रोगादि कष्टों का नाश भी अभिप्रेत होता है। इससे परम निर्वृति की प्राप्ति भी होती है। 'हनुमानबाहुक' नामक काव्य की रचना के द्वारा बाहुपीडा से तुलसीदास के मुक्त होने की बात कही जाती है। यह कथन पूर्ण सत्य हो या न हो, इतना तो सर्वमान्य है कि भाव प्रधान काव्य से मानव हृदय को अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है जो उसके दुःख को नाश करने में समर्थ होता है।

च) कांतासम्मितताः- काव्य का अंतिम प्रयोजन कान्तासम्मित उपदेश कहा जाता है इसके तीन प्रकार हैं - प्रभु सम्मित, सुहृद सम्मित और कांता सम्मित। प्रथम में विधि-निषेध की प्रधानता होती है;द्वितीय में उपदेश सुझाव के रूप में रहता है और अंतिम में उसका प्रत्यक्ष कथन नहीं, संकेतमात्र होता है। काव्य के द्वारा उपदेश प्रत्यक्ष रूप से प्रवचन जैसा नहीं रहता है, उसका संकेत मात्र किया जाता है जिसे रसग्राही पाठक स्वयं ग्रहण कर लेता है। जिस काव्य में उपदेश का तत्व प्रधान होता है, उसमें भावपक्ष निर्बल हो जाता है और काव्य की रागात्मकता का गुण नष्ट हो जाता है।

आधुनिक समीक्षकों में आचार्य समचन्द्रशुक्ल काव्य का प्रयोजन जीवन के मार्मिक पक्षों क उदघाटन करना ही मानते हैं, मात्र मनोरंजन नहीं। उनके अनुसार "कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन है"। उनके विचार से कविता दिव्य शक्ति संपन्न होती है, सस्ते मनोरंजन केलिए नहीं। इसी प्रकार आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी भी काव्य का विशेष प्रयोजन कल्याणकारी तत्व की अभिवृद्धि में मानते हैं। द्विवेदीजी लिखते हैंः- "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ"।

उपरोक्त सारे अभिमत साहित्य-शास्त्रियों के हैं। अब पाठक का दृष्टिकोण लीजिए जो काव्य-सर्जक नहीं; उसका रसास्वादक होता है। वह यह भी चाहता है कि कावय के पठन-पाठन से उसके लौकिक या व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि हो। वह आनन्दाभूति पर विशेष बल देता है और ज्ञान प्राप्ति को गौण भी। इस प्रकार काव्य विभिन्न प्रयोजनों से संपन्न है।

(3) भारतीय परंपरा की दृष्टि से काव्य का विभाजन (वर्गीकरण)कीजिए।

अथवा

विषयगत और विषयीगत तथा दृश्य और श्रव्य काव्य से क्या तात्पर्य है? शैली, अर्थ और बंध की दृष्टि से काव्य के कौन - कौन भेद होते हैं?

इन्द्रियग्राह्यता व स्वरूप के आधार पर हिन्दी काव्य को हम सर्व प्रथम दृश्य और श्रव्य नाम के दो प्रधान भेदों में बाँट सकते हैं। दृश्य से अभिप्राय उस काव्य से है, जिसे हम आँखों से रंगमंच पर अभिनीत होते देखते हैं। साधारण रूप से दृश्य काव्य को रूपक कहते हैं। क्योंकि इसमें अभिनेता पात्रों के रूप का अपने ऊपर आरोप कर लेता है- "रूपारोपात रूपकं"। संस्कृत के आचार्यो ने रूपक के दस भेद माने हैं, जिनमें से नाटक मुख्य है। हिन्दी में लोग प्रायःरूपक के पर्याय के रूप में नाटक शब्द का प्रयोग करते हैं। उपरूपक के 18 भेद भी निर्धारित हैं।

श्रव्य काव्य से अभिप्राय उस काव्य से है जो कानों से सुना जाता है। इसके तीन भाग किये गये हैं-पद्य, गद्य, गद्य-पद्यमय(चंपू)। पद्य में छन्दशास्त्र के अनुसार वर्णों या मात्राओं का ध्यान रखना पडता है। आजकल कुछ कवि छन्दों के बिना भी पद्य में रचना करते हैं। 'पद्य' शब्द संस्कृत की 'पद्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'चलना-गतिमय होना'। पद्य केलिए नृत्य जैसी चाल आवश्यक है। यह भाव प्रधान रचना है। इसलिए उसमें भावानुकूल लय का सृजन करना

आवश्यक होता है। गद्य में पद्य की अपेक्षा भाव का प्राधान्य कम होता है। उसका संबन्ध 'गद्' धातु से है जिसका अर्थ है साधारण रूप से बोलना।

पद्य के दो मुख्य भेद हैं-प्रबन्ध और मुक्तक प्रबन्ध काव्य में कथा का क्रम रहता है, मुक्तक काव्य में कथा का कोई क्रम नहीं रहता । यह क्रम मुक्त रहता है, अतः इसे मुक्तक कहते हैं। "मुक्तेन मुक्तकं"। प्रबंध काव्य के दो भेद होते हैं-महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में आकार की विशालता तो रहती है। उसमें जीवन की विविधता और व्यापकता का भी समावेश रहता है। खण्ड काव्य में जीवन के किसी एक स्वरूप की झलक रहती है। हिन्दी में गुप्तजी का 'साकेत', प्रसादजी की 'कामायनी' आदि महाकाव्य के उदाहरण हैं। रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' और उदयशंकर भट्ट की 'तक्षशिला' आदि खण्डकाव्य हैं। रहीम, कबीर, बिहारी आदि के दोहे मुक्तक काव्य के उदाहरण हैं। प्रत्येक दोहा स्वतंत्र है, उसे समझने केलिए पूर्वापर संबन्ध की आवश्यकता नहीं। मुक्तक काव्य को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है-पाठ्यऔर गेय। जिस पद्य को हम गा कर पढ़ सकते हैं वह पाठ्य कहलायेगा। जिस पद्य को वीणा आदि के साथ गा कर पढने में सुविधा रहती है उसे गेय कहते हैं। इस दृष्टि से बिहारी आदि के दोहे पाठ्य कहलायेंगे और सूर, तुलसी तथा मीरा के पद गेय कहलायेंगे। गेय गीत काव्य या प्रगीति कावय भी कहा जाता है।

गद्य उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवनी, संस्मरण, गद्यगीत आदि रूपों में बाँट सकते हैं। श्रव्यकाव्य का तीसरा भेद गद्यपद्यमय रचना है। इसको संस्कृत में चंपू कहते हैं। इसमें ओजपूर्ण गद्य के बीच-बीच पद्य आते रहते हैं। हिन्दी में इस भेद को अभी तक विशेष रूप से अपनाया नहीं गया है। कुछ लेखक गुप्तजी की 'यशोधरा' को चंपू काव्य मानते है। किन्तु एक संपन्न चंपू काव्य के सफल लक्षण उसमें प्राप्त नहीं होते।

रमणीयता को ख्याल में कर के काव्य के और भी चार भेद किये जाते हैं- उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। जहाँ शब्द और अर्थ गौण रहते हैं किंतु एक चमत्कृत अर्थ को व्यक्त करते हैं; अर्थात व्यंग्यार्थ की प्रधानता है तो वह उत्तमोत्तम काव्य है। इसे ध्वनिकाव्य भी कहते हैं। व्यंग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ की अप्रधानता है वहाँ उत्तम काव्य है जिसका दूसरा नाम गुणीभूत व्यंग्य है। वाच्यार्थ में अपेक्षाकृत अधिक चमत्कार और व्यंग्यार्थ में अपेक्षाकृत कम चमत्कार हो वहाँ मध्यम काव्य है। केवल शब्द का ही चमत्कार जहाँ बताया जाता है वहाँ अधम काव्य माना जाता है। पाश्चात्य विचारक भी काव्य का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक आधार पर करते हुए उसके दो भेद मानते हैं-विषयीगत और विषयगत। विषयीगत काव्य में कवि की प्रधानता मिलती है। इस प्रकार के काव्य को अंग्रेज़ी में 'लिरिक' (Lyric) कहते हैं। विषयगत काव्य में वर्णन का प्राधान्य होता है जिसे 'Narrative' कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षक महाकाव्य को इसी श्रेणी में रखते हैं। आधुनिक समीक्षक काव्य का वर्गीकरण तीन दृष्टिकोणों से करते हैं-शैली, अर्थ और बंध। शैली में पद्य, गद्य और मिश्र-ये तीन रूप आते हैं। अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के तीन भेद हैं-उत्तम, मध्यम और अधम। बन्ध के विचार से भी काव्य के दो भेद होते हैं-प्रबन्ध और मुक्तक।

संक्षेप में काव्य के दो रूप निर्धारित हैं-स्वानुभूति मूलक और बाहयार्थ मूलक। प्रथम में कवि की वैयक्तिक भावनायें प्रधान होती हैं। द्वितीय प्रकार का काव्य सामजिकता की भावना से प्रभावित रहता है;अर्थात उसमें सामाजिक विचारों,समस्याओं आदि को प्रधानता दी जाती है। काव्य जीवन की व्याख्या है। संस्कृत में दृश्य और श्रव्य दोनों को काव्य के अंतर्गत रखा गया था। आज के युग में श्रव्य काव्य वस्तुतःपाठ्य काव्य हो गया है।

(4) 'महाकाव्य' किसे कहते हैं? भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षणों पर विचार कीजिए।

श्रव्य काव्य के तीन भेद किये गये हैं-पद्य, गद्य और चंपू। बन्ध की दृष्टि से पद्य के दो विभाग हैं-प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध में पूर्वापर का तारतम्य होता है। मुक्तक में इस तारतम्य का अभाव रहता है। प्रबन्ध में छन्द एक दुसरे से कथानक की श्रृंखला में बन्धे रहते हैं। मुक्तक छन्द पारस्परिक बन्धन से मुक्त होते हैं, वे स्वतः पूर्ण होते हैं। प्रबन्ध के भी दो भेद किये गये हैं-महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य का क्षेत्र विस्तृत होता है;उसमें जीवन की अनेकरूपता दिखाई जाती हे। स्थूल रूप से, महाकाव्य में नायक के लगभग संपूर्ण जीवन का वर्णन रहता है और खण्डकाव्य में महत्वपूर्ण घटना विशेष वर्णित की जाती है। व्यक्ति-विशेष के जीवन-वृत्त के अतिरिक्त महाकाव्य में जीवन-तत्वों और मूल्यों की व्यापक व्याख्या और गंभीर समस्याओं की भी बुद्दि-संगत विवेचना रहती है।

महाकाव्य को अंग्रेज़ी में Epic (एपिक) कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षा में काव्य के दो मूल विभाग किये गये हैं-विषयीप्रधान (subjective)और विषय प्रधान (objective) । विषयीप्रधान काव्य को प्रगीत काव्य कहा गया है और विषय प्रधान का एपिक से तादात्मय किया गया है। महाकाव्य में विवरण की प्रधानता रहती है। कवीन्द्र रनीन्द्र के अनुसार "कवि के मन में एक महत् व्यक्तित्व का उदय होता है तो एक महापुरुष आ कर कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार जमाता है। फलतःमहाकाव्य का प्रणयन होता है"। भारतीय दृष्टिकोण से महाकाव्य में लोक सम्मानित उच्च गुणसंपन्न व्यक्ति को नायक बनाया जाता है जिससे उसके आदर्शों से जन साधारण प्रेरणा ग्रारण कर सके। इतना ही नहीं,जीवन संबन्धी जातीय भावनाओं और आदर्शों का भी उसमें समावेश रहता है। साथ ही महाकाव्य में काव्य-कला का भी उत्कर्ष अभिप्रेत रहता है। महाकाव्य में सर्गों की संख्या के संबन्ध में भी आचार्यों ने नियम बनाये हैं। इस विषय में कवियों ने स्वतंत्रता से भी काम लिया है। तुलसी ने 'मानस' में केवल सात कांड रखे हैं, गुप्तजी ने 'साकेत' में बारह सर्ग रखे हैं। अन्य कवियों ने अपने काव्यों में यह संख्या अठारह-बीस तक बढा दी है। महाकाव्य के रस और उद्देश्य आदि केलिए भी संस्कृत् काव्य-शास्त्रियों ने अनेक नियम निर्धारित किये हैं।

पाशचात्य विचारक भी महाकाव्य या 'एपिक' को मानवीय और जातीय गुणों से युक्त मानते हैं। हीगेल ने महाकाव्य की परिभाषा देते हुए उसके विविध अंगों का इस प्रकार उल्लेख किया है- "एपिक का नायक मानवता की भावना से पूर्ण तथा सार्वभौम गुणों से युक्त ऐतिहासिक स्तर पर प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए"। महाकाव्य में कलापक्ष भी उपेक्षणिय नहीं होता। इसी से अनेक आलोचकों ने महाकाव्य को काव्य-कला का सर्वोच्च रूप माना है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के लक्षणः-

साहित्य दर्पण में 'सर्ग बन्धो महाकाव्यम' कहा गया है। अतःमहाकाव्य सर्गबद्ध रचना है। ये सर्ग विभिन्न वृत्तान्तवाले एवं विस्तृत है। इतिहास प्रसिद्ध किसी महापुरुष के जीवन का वृत्तान्त उसका विषय है। नायक देवता या उत्तम वंश का धीरोदात्त गुणों से समन्वित पुरुष होता है। उसमें एक वंश के बहुत राजा भी हो सकते हैं-जैसे कि रघुवंश में। महाकाव्य में विविध छन्दों का प्रयोग है। उसमें नगर, वन, पर्वत, आश्रम, जल-क्रीडा, उपवन, उत्सव आदि का वर्णन है। महाकाव्य में समस्त रीतियों, वृत्तियों, रसों आदि का समावेश है। उक्ति-वैचित्य की प्रधानता होने पर भी उसमें प्राण-रूप में रस ही व्याप्त रहे। उसमें नायक के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वग

की प्राप्ति दिखाई जाय। इस में मंगलाचरण और वस्तुनिर्देश होता है। महाकाव्य में भाषा का साहित्यिक रूप व्यवहृत होना चाहिए, तदभव रूप नहीं।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के मुख्य लक्षणः-

महाकाव्य वर्णन प्रधाव एक विशाल काव्य है। इसमें व्यक्ति की अपेक्षा जाति को महत्व दिया जाय। इसी से महाकाव्य में जातीय संघर्ष भी दिखाया जाता है। इसका विषय परंपरा से प्रतिष्ठित और लोकप्रिय होता है। इसके पात्र शौर्य-गुण-प्रधान होते हैं। उनका संपर्क देवताओं से भी रहता है । इसमें नायक को लेकर सारी कथा एक ही सूत्र में बन्धी रहती है। एपिक की शैली शालीन, परिष्कृत और साहित्यिक होनी चाहिए। इसमें एक ही छन्द का प्रयोग किया जाया।

महाकाव्य के भारतीय और पाश्चात्य लक्षणों में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अधिक अन्तर नहीं है। नायक के गुणों के संबन्ध में दोनों एकमत हैं कि नायक को श्रेष्ठगुण संपन्न होना चाहिए। किन्तु पाश्चात्य समीक्षक नायक के व्यक्तिगत गुणों पर बल देते हैं। भारतीय आचार्य नायक के वर्णन जितनी तन्मयता से करते हैं उसके अवगुणों का उल्लेख उतनी लगन से नहीं करते । इसके विपरीत योरोपीय कवि नायक के गुणों के साथ अवगुणों का वर्णन करने में भी अधिक स्वाभाविकता मानते हैं। उनका नायक साधारण मानव होता है जिसमें गुणों के साथ-साथ अवगुण भी होते हैं। दैव की प्रधानता दोनों ही परंपराओं में मान्य है। पर भारतीय उसे अनुकूल तत्व मानते हैं और पाश्चात्य आचार्य बाधा डालनेवाला अनिवार्य तत्व भी। भारतीय विचार धारा में प्रत्येक व्क्ति अपने कर्मानुसार फल भोगते है जिसमें उसे ईस्वर की सहानुभूति प्राप्त होती है। ईश्वर की सानुकूलता और सहानुभूति नायक को इसलिए भी प्राप्त होती है कि वह देव-वर्ग का ही होता है। इससे बाधा का प्रश्न ही नहीं उठता । परिणाम स्वरूप काव्य में संघर्ष कम होता था। पाश्चात्य काव्यों में संघर्ष का तत्व प्रधान रहता है।

भारतीय और पाश्चात्य परंपराओं में महाकाव्य के लक्षंणों के संबन्ध में कतिपय विभिन्नताओं के होते हुए भी मूल तत्व प्रायः एक ही हैं। यों तो किसी भी युग के कवि ने आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षणों के निर्वाह का पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया। परंतु आधुनिक युग में रचित अधिकांश काव्यों में योरोपीय तत्वों की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की गयी है।

(5) नाटक के प्रमुख तत्व कौन-कौन हैं?भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रत्येक को संक्षेप में समझाइएः-

दृश्य काव्य में केवल श्रवण-पथ से जानेवाले शब्दों द्वारा ही नहीं, वरन् नेत्र - पथ से मन तक पहूँचनेवाले दृश्यों द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रस का संचार किया जाता है। नाटककार की भाषा में जो कमी रहती है वह नटों या अभिनेताओं की भाव-भंगी से पूरी हो जाती है। शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्व अधिक है। इसमें सभी कलाओं का समावेश होता जाता है। नाट्यकला के आदि आचार्य भरत मुनि ने ठीक ही कहा है- "योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय"। नाटक में वास्तविकता का अनुकरण जीते-जगते साधनों द्वारा किया जाता है। इसमें घटनायें घटित होती दिखाई देती हैं। कहा गया है कि "काव्येषु नाटकं रम्यम्"। नाटक को शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहते हैं। वास्तव में दृश्यकाव्य के दो भेदों - रूपक और उपरुपक में - रुपक के दस भेदों के अन्तर्गत नाटक प्रतिष्ठित हैं।

नाटक के भारतीय और पाश्चात्य तत्वों में प्रमुख अन्तर यह है कि यहाँ के आचार्यों ने उसके 'रस' तत्व पर बल दिया है तो पाश्चात्य आचार्यों ने 'उद्देश्य' तत्व पर भी। अतएव दोनों को सम्मिलित करके नाटक के छह तत्व माने जा सकते हैं-कथा-वस्तु, पात्र, रस, देश-काल, भाषा - शैली और उद्देश्य।

1. कथावस्तुः-

इसका घनिष्ठ संबन्ध चार बातों से है-इतिवृत्त, नायक, अभिनय और संवाद। इतिवृत्त की दृष्टि से कथा-वस्तु तीन प्रकार की होती है-प्रख्यात, कल्पित और मिश्रित। 'प्रख्यात' कथा-वस्तु समाज में प्रसिद्ध होती है, चाहे वह पौराणिक हो या ऐतिहासिक। 'कल्पित' कथा लेखक के मस्तिष्क की उपज होती है और मिश्रित में कुछ तत्व प्रख्यात होते हैं और कुछ कल्पित। नायक की दृष्टि से कथा दो प्रकार की होती है-आधिकारिक और प्रासंगिक। प्रथम प्रकार का नायक के उद्देश्य से सीधा संबन्ध रहता है। प्रासंगिक कथा प्रसंगानुसार आरंभ और समाप्त होती है। इसके दो भेद हैं-पताका और प्रकरी। 'पताका' नाटक के बीच से आरंभ हो कर आधिकारिक के साथ-साथ चल कर उसके उत्कर्ष में सहायक होती है। 'प्रकरी' के आरंभ के साथ उसका अन्त भी बीच में हो जाता है। अभिनय की दृष्टि से भी कथा के दो भेद हैं- दृश्य और सूच्य। 'दृश्य' से तात्पर्य कथा के उन प्रसंगों से है जो रंगमंच पर अभिनीत होते हैं। सूच्य का संबन्ध उस भाग से है जो मंच पर घटित होता नहीं दिखाया जा सके, प्रत्युत कथा सूत्र को संगिठित करने केलिए उसकी सूचना देना मात्र पर्याप्त समझा जाता है। साहित्यिक शबादावली में इनको 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं जिसके पांच प्रकार हैं-विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। 'संवाद' की दृष्टि से नाटकीय कथा-वस्तु के तीन भेद हैं-सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। संवाद का एक रूप 'आकाश भाषित' भी है, यध्यपि यह शुद्ध संवाद नहीं है।

फल या कार्य की सिद्धि केलिए प्रयत्न किये जाने पर कथा में जो उतार-चढाव होता है, उसकी दृष्टि से 'कथा-वस्तु' की पाँच कार्यवस्थायें मानी जाती हैं - प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम। 'प्रारंभ' के अंतर्गत नाटक के कार्य या फल की सूचना और उसकी प्राप्ति केलिए प्रयत्न के प्रारंभ का उल्लेख रहता है। प्रयत्न कार्य को आगे बढाता है, फ़िर कोई बाधा आ जाती है। प्राप्त्याशा में बाधा मिटने की आशा हो जाती है। नियताप्ति में प्राप्ति निश्चित हो जाती है। फलागम में फल की प्राप्ति हो जाती है। यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं- व्याख्या, प्रारंभिक संघर्षमय घटना, कार्य का चरम-सीमा की और बढ़ना, चरम-सीमा और कोटेस्ट्रोफी। अर्थ प्रकृतियाँ कथा-वस्तु को कार्य की ओर ले जाती हैं। ये भी पाँच हैं-बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इनमें बीज तो प्रारंभ नाम की अवस्था से मिलता है। बिंदु में तेल की बूँद का रूपक है। यह पानी के ऊपर फैल कर विस्तार का द्योतक बन जाता है। पताका और प्रकरी में छोटी अवान्तर कथायें होती हैं जो मूल कथा को आगे बढाने में सहायक होती हैं। कार्य अंतिम फल को कहते हैं। मेल या जोड को सन्धि कहते हैं। इसमें अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों का मेल कराया जाता है। नाटकीय संधियों का संबन्ध मुख्य रूप से उसके कथानक से होता है। सन्धियाँ नाटक के उद्देश्य की स्थापना में सहायक होती हैं। ये भी पाँच हैं- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श (अवमर्श) तथा निर्वहण(उपसंहार) प्रारंभ नाम की अवस्था के साथ योग होने से अनेक रसों व अर्थों के द्योतक बीज की उत्पत्ति होती है तो मुख संधि है। प्रतिमुख में बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकसित होता हुआ दिखायी देता है। नाटक में जब कथा-वस्तु का विस्तार बढता जाता है तथा फल अदृश्य रूप से वृद्धि पाता रहता है, वहाँ

गर्भ-सन्धि होती है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। अवमर्श में नियताप्ति और प्रकरी का मेल होता है। निर्वहण संधि में कार्य फलागम का योग हो कर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवस्थायें कार्य-सिद्धि की श्रेणियों से, अर्थ-प्रकृतियाँ कार्य-सिद्धि के साधनों से और संधियाँ कथानक के भाग से संबन्ध रखती हैं। कथा-संगठन के साथ-साथ ये संधियाँ उसको पूर्णता प्रदान करने में भी सहायक होती हैं।

2. पात्रः-

नाटक का प्रमुख पात्र, जो उसके उद्देश्य का निर्वाह कर के फलागम का अधिकारी होता है 'नायक' कहलाता है। दर्शक की उत्सुकता प्रधान रूप से उसी के कार्य - व्यापार में केन्द्रित रहती है। अतएव सामान्यतथा प्रत्येक नाटक का पात्र विशिष्ट गुण-संपन्न होता है। गुणों के अनुसार नायकों के चार प्रकार बताये गये हैं-धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त और धीरोद्धत। पत्नी या प्रेमिका नायिका के प्रति प्रेम-संबन्ध को लेकर नायक के चार वर्ग किये गये हैं - अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त। 'नायक' के अतिरिक्त भी नाटक में अनेक पात्र होते हैं जिनमें प्रतिनायक, पीठमर्द, विट, विदूषक आदि। स्त्री-पात्रों की संख्या नाटक में पुरुषों की अपेक्षा कम रहती है। स्त्री-पात्रों में प्रधान होती है 'नायिका' जो साधारण रूप से नायक की प्रिया या पत्नी ही होती है। प्रतिनायिका, सखियों और सेविकाओं को भी नाटकीय स्त्री-पात्रों में सम्मिलित कर लिया जाता है।

3. रसः-

भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'नाटक' का प्रधान गुण 'रस' माना गया है जब कि पाश्चात्य परंपरा के अनुसार 'उद्देश्य' को प्रधानता दी जाती है। भारतीय नाटक में केवल दो रस प्रधान माने गये हैं-श्रृंगार और वीर। अन्य रस इनके सहायक के रूप में आते हैं। नाटक या अभिनय की सफलता तभी समझी जाती है जब अभिनय देख कर दर्शकों में तदनुरूप भाव जाग्रत हो सके। 'रस' की दृष्टि से नायक-नायिका के कार्य-विशेष को 'वृत्ति' कहते हैं। 'वृत्तियाँ' चार प्रकार की होती हैं-कैशिकी , सात्वती, आरभटी और भारती।

4. देश - कालः-

नाटकीय 'देश - काल' के संबन्ध में बहुप्रचलित शास्त्रीय शब्द है 'संकलनत्रय'। इसमें काल या युग, देश या स्थान और वस्तु या कथा के समुचित संकलन की बात आती है। यूनानी नाट्य - शास्त्रीयों ने 'संकलन - त्रय' की एकता पर बडा बल दिया था। परंतु यहाँ के आचार्यों ने पात्रों और घटनाओं के ऐसे संयोजन को ही आवश्यक समझा जिससे पूर्वापर संबन्ध कहीं छिन्न - भिन्न न हो कर संगठित प्रतीत हो। अभिनेय वस्तु होने के कारण 'नाटक' के रचयिता को उसका बहुत अधिक ध्यान रखना पडता है। सफल 'नाटकों' में इस संकलनत्रय का संयोजन बडी सावधानी से किया जाता है।

5. शैलीः-

नाटक-लेखन की शैली दो प्रकार की होती है - भाव प्रधान और कर्म प्रधान। भाव प्रधान शैली में लेखक पात्रों के मुख से उनके भावों को व्यक्त कराता है और कर्म प्रधान शैली में सब विचार पात्रों के अभिनय द्वारा व्यक्त करेये जाते हैं। नाटकों में प्रभावोत्पादकता तो दोनों शैलियों के समुचित नियोजन से आती है।

6. उद्देश्यः-

नाटक का उद्देश्य आरंभ में अप्रत्यक्ष रहता है। ज्यों-ज्यों कथा आगे बढती जाती है, त्यों-त्यों उद्देश्य के अंगें का प्रकाशन होता चलता है। अंत में नाटक की समाप्ति पर निष्कर्ष रूप में उसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। भारतीय आचार्यों ने धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को नाटकीय कथा-वस्तु का फल माना है। पाश्चात्य विचारक यथार्थ वादी वर्णन पर अधिक बल देते हैं।

संक्षेप में,नाटककार अपनी कृति की रचना करते समय अपने व्यक्तित्व को सर्वदा स्वच्छन्द मानता है। कभी वह कथा की प्रगति-दिशा से बाध्य हो कर और कभी स्व-उद्देश्य-स्थापना से प्रेरित हो कर उक्त तत्वों में से किसी की उपेक्षा कर देता है और किसी पर अनावश्यक बल दे देता है। तत्वों की अनायास योजना नाटक की रचना की विशिष्टता ही समझनी चाहिए।

6. 'उपन्यास' की परिभाषा लिख कर उसके प्रमुख तत्वों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उपन्यास आधुनिक युग की देन है। हमारे यहाँ संस्कृत में लंबी-लंबी कथाओंवाले ग्रंथ तो हैं, जैसे बाणभट्ट की कांदबरी, सुबंधु की वासवदत्ता तथा दण्डी का दशकुमार चरित; पर उनमें वे कथन तत्व नहीं हैं जो आधुनिक उपन्यासों में पाये जाते हैं। प्राणी के जीवन की यथार्थ या कल्पित घटनापूर्ण कथा को लेकर पूर्वापर संबन्ध युक्त जो रचना पाठक के मनोरंजनार्थ गद्य में लिखी जाती है,उसे उपन्यास कहते हैं। इसमें प्राणी के जीवन के विविध प्रसंगों और समास्याओं का इस प्रकार वर्णन किया जाता है जो सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत हो। प्रेमचन्द के शब्दों में उपन्यास मानव-जीवन का चित्रमात्र है। मानव जीवन पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास का मूल तत्व है। तात्पर्य यह है कि उपन्यास के पात्र वास्तविक जगत के ही हों, उनकी समस्यायें भी सहज स्वाभाविक हों और कल्पना के सहयोग से लेखक सभी घटनाओं को क्रमबद्ध और सर्वांगीण रूप में प्रसतुत करें, तभी उपन्यास सफल समझा जाता है। उपन्यासकार जीवन की वास्तविक घटनाओं को लेकर कल्पित व्यक्तियों के माध्यम से याने पात्रों द्वारा हमारे सामने रखता है और हमें ही रहस्य सुना कर मुग्ध करता है। इसी वास्तविकता को सामने रख कर डा.श्यामसुंदरदास ने उपन्यास की परिभाषा यों की है- 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है'।

'उपन्यास' का शब्दार्थ है-उप + न्यास अर्थात वह -जो सामने रखा जाए। अंग्रेज़ी शब्द नॉवल केलिए हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द गढ़ा गया है। उपन्यास गद्य की विधाओं में प्रमुख है। इसके प्रमुख छह तत्व माने जाते हैं-कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल या वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य। कथा-वस्तु ही उपन्यास की आधार भूमि है। इसके अंतर्गत वे घटनायें और व्यापार आते हैं जिनके संपादन में उपन्यास के पात्रों का प्रत्यक्ष या परोक्ष योग रहता है। उपन्यास में कथा-विकास की साधारणतया तीन स्थितियाँ रहती हैं-प्रारंभिक, मध्य और अंतिम या चरमावस्था। प्रारंभिक स्थिति में कथावस्तु को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि पाठक को समस्या का सूत्र मिल जाय और साथ-साथ उसकी उत्सुकता भी जाग्रत हो जाय। मध्य स्थित में लेखक का कौशल कथा के विकास को ऐसी स्वाभाविक गति देने में है कि उपन्यास की समश्याओं की जटिलता से भी वह परिचित हो जाय। इस स्थिति में भी पाठक की उत्सुकता निरंतर बनी रहे। चरमा वस्था में उपन्यास की समाप्ति ऐसे रूप में होनी चाहिए जिसकी कल्पना पाठक कर ही न सका हो। उपन्यास के सफल कथानक में चार गुण अवश्य हों-मौलिकता, कथा-संगठन, स्वाभाविकता और रोचकता ।

उपन्यास का दूसरा प्रमुख तत्व है पात्र। सभी रचनाओं के पात्र लेखक के मस्तिष्क की उपज होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी वह उनको बनाना चाहता है, वे बन जाते हैं। उनमें गुण या अवगुण दिखाने केलिए वह स्वतंत्र रहता हैं। सफल उपन्यास के पात्र जीवित नर-नारी होने चाहिए जिनमें सामान्य मानवों-जैसे गुण-दोष हों।पात्रों के वचन और कार्य भी स्वतंत्र नर-नारियों जैसे हों। इस प्रकार पात्रों की सृष्टि वही उपन्यासकार कर सकेगा जिसे मनोविज्ञान की अच्छी जानकारी हो। उपन्यास के प्रतिनिधि पात्रों में जाति या वर्गगत संस्कारों की प्रधानता होती है तो इनको 'वर्ग-पात्र' कह सकते हैं। विशिष्ट व्यक्तित्व वाले पात्रों में जाति या वर्गगत संस्कार प्रधान नहीं होते; इसलिए इनको 'व्यक्तिपात्र' कह सकते हैं। अधिकांश उपन्यासों में 'वर्ग पात्रों' की प्रधानता रहती है।

उपन्यास में कथोपकथन या वार्तालाप का समावेश तीन उद्देश्यों से होता है - 1. पात्रों के चरित्र, स्वभाव, योग्यता आदि पर प्रकाश डालने केलिए, 2. विगत घटनाओं और भावी योजनाओं या गति-विधि की सूचना देने केलिए, 3. देश काल संबन्धी सामान्य बातों से परिचित कराने केलिए। उपयोगिता की दृष्टि से दूसरा अधिक सफल माना जाता है। संक्षिप्तता, वाग्विदग्धता, वाक्य-विन्यास का लालित्य-ये तीन कथोपकथन के गुण हैं। प्रभावोत्पादकता और स्वाभाविकता भी कथोपकथन के उत्तम लक्षण हैं। उपन्यास में 'देश-काल' तत्व नाटकों की ही भाँति रहता है। सामाजिक या सामयिक नाटकों की अपेक्षा इस तत्व की महत्ता ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक समझी जाती है। साहित्य को समाज का दर्पण देश-काल तत्व के निर्वाह की दृष्टि से ही कहा जाता है। उपन्यास की भाषा सजीव और प्रचलित होनी चाहिए। पात्र के अनुसार यदि भाषा में कुछ परिवर्तन किया जाय तो वर्णन में स्वाभाविकता भी आ जाती है। उपन्यास की लेखन-शैली के अनेक प्रकार हैं। कुछ उपन्यास लेखक की ओर से सामान्य कहानी की तरह लिखे जाते हैं तो कुछ पात्र की ओर से आत्म-कथा के रूप में। ये दो ही अति प्रचलित शैलियाँ हैं।

उपन्यास का अंतिम तत्व है 'उद्देश्य'। यह तो सर्वमान्य है कि प्रत्येक रचना किसी घटना या पातर् के व्यक्तित्व की विशिष्टता से प्रभावित हो कर लिखी जाती है। लेखक का यह भाव किसी न किसी रूप में व्यक्त भी हो जाता है। सथूल रूप से यही भाव रचना का उद्देश्य होता है। महान उपन्यासकार महान विचारक भी हुए हैं; फलतःउनके विचारों का प्रभाव उनके उपन्यासों पर भी पडा है। इसी प्रकार पात्रों के उत्थान पतन की कहानी भी उपन्यास के 'उद्देश्य' पर ही प्रकाश डालती है। उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों;उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पडने पाये। अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायेगा।

उपन्यास साहित्य की अति सशक्त और लोकप्रिय विधा है। वर्तमान युग में हिन्दी का उपन्यास साहित्य विकास के पथ पर अग्रसर है। उसका भविष्य उज्जवल अवश्य रहेगा।

7. कहानी के प्रमुख तत्वों का संक्षिप्त परिचय दीजिए और बताइए कि उपन्यास से उसमें किन-किन बातों का अन्तर रहता है ?

कहानी की रचना जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर इस प्रकार की जाती है कि पात्र के व्यक्तित्व का अंग-विशेष प्रभावशाली रूप में अंकित हो सके। सामान्य रूप से कहानी इतनी ही लंबी होती है कि अधिक से अधिक आधे घंटे की बैठक में समाप्त हो जाय। अतएव सभी प्रकार के अनावश्यक विस्तार से लेखक अपनी रचना को बचाता है। यहाँ तक कि एक भी अनावश्यक वाक्यांश या शब्द सफल कहानीकार की कृति में नहीं मिलता । सफल कहानी का आरंभ ऐसे ढंग

से किया जाता है कि पाठक उसकी ओर आकृष्ट हो जाय। इसी प्रकार उसके विकास का क्रम भी ऐसा होना चाहिए कि पाठक की उत्सुकता अंत तक बनी रहे। कुशल कहानीकार अपनी रचना का अंत ऐसे ढंग से करता है जिसकी कल्पना भी पाठक न कर सका हो;फिर भी वह कथा की गति-विधि और नायक-नायिक की प्रवृत्ति की दृष्टि से सर्वथा संगत और उपयुक्त जान पडे। इसी कारण कहानी का शीर्षक भी ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे उसके अंत का कुछ आभास मिल सके।

उपन्यास और कहानी दोनों कथा-साहित्य के अंग हैं।दोनों में वास्तविक जीवन का काल्पनिक वर्णन रहता है। दोनों में केवल आकार का अंतर ही नहीं, रचना-प्रक्रिया का भी अंतर है। कहानी में यध्यपि तत्व नहीं होते हैं जो उपन्यास में होते हैं। पर उन दोनों के संजोने की दृष्टि से उपन्यास और कहानी में अन्तर पड जाता है। उपन्यास में कथानक, चरित्र- चित्रण, कथोपकथन, वातावरण और उद्देश्य-इन पांचों को उचित मात्रा में स्थान देना पडता है। पर कहानी में कथानक, चरित्र-चित्रण और वातावरण इन तीनों में से किसी एक के चित्रण पर कहानीकार का ध्यान रहता है। उपन्यास में जीवन की व्यापकता है; कहानी में जीवन का केवल एक पक्ष दिखाया जाता है। उसी एक पक्ष के ऊपर कहानीकार का सारा ध्यान केन्द्रित रहता है। इसीलिए कहानी को Snapshot या slice from Life कहा जाता है। उपन्यास में लेखक आसपास की बातों पर भी ध्यान देता है-जीवन की लंबी-चौडी व्याख्या करता है। पर कहानी में इधर-उधर नहीं झांका जाता ; अपने लक्ष्य का ही ध्यान रखा जाता है। उपन्यास में एक से अधिक कथानक रखे जाते हैं, पर कहानी में प्रायः एक ही कथानक रहता है। उपन्यास में जैसे मुख्य और गौण पात्र रखे जाते हैं, वैसे कहानियों में प्रायः नहीं होते । उपन्यास के पढने और लिखने में समय अधिक लगता है। कहानी में समय की बचत होती है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कहानी का छोटा होना ही उसका लक्षण मान लिया है। एडगर एलन पो नामक विद्वान ने कहा है- "कहानी वह रचना है जो आधे घंटे से लेकर एक या दो घंटे में पढी जा सके"। अतःकहानी इतनी छोटी है कि हम उसे एक ही बैठक में पढ़कर समाप्त कर दें। उपन्यास में वातावरण का विस्तार, जीवन की अनेकरूपता, बहुशाखायुक्त कथा-प्रवाह आदि जो कुछ उपादेय और ग्राह्य माना जाता है वह सब कुछ कहानी में अनुपादेय तथा अग्राह्य है।

उपन्यास की तरह कहानी के प्रमुख तत्व भी छह ही हैं-कथानक, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, भाषा -शैली और उद्देश्य। तत्वों की समानता होने पर भी उपन्यास का कोई परिच्छेद ही कहानी न बन सकता है। वस्तुतः 'कहानी' अपने में सभी दृष्टियों से पूर्ण रहती है। फिर भी कहानी के तत्वों में उपन्यास के तत्वों की कुछ विशेषतायें पायी जाती हैं। कहानी लिखी जाती है किसी कथा को लेकर। यह कथा मानव या मानवेतर, किसी भी प्राणी की हो सकती है। कुछ कहानियाँ घटना प्रधान होती हैं तो कुछ भाव-विशेष का विश्लेषण करने वाली भी। कथानक के स्वरूप के आधार पर कहानियाँ मुख्यतः चार प्रकार की होती हैं-घटना -प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव प्रधान और वर्णन प्रधान। संक्षिप्त रचना होने के कारण कहानी में पात्रों की संख्या अधिक नहीं होती । अधिक से अधिक उसमें तीन-चार पात्र हो सकते हैं जिनमें प्रधान पात्र केवल एक ही होता है। अन्य पात्र उसके व्यक्तित्व को उभारने केलिए पृष्ठभूमि-जैसा कार्य करते हैं। पात्रों के चरित्रों के चित्रण के मुख्यतः चार ढंग हैं- वर्णन, संकेत, कथोपकथन और घटना। उपन्यास की भाँति कहानी के पात्र भी 'वर्गपात्र' और 'व्यक्तिपात्र' होते हैं। परंतू 'वर्ग' की अपेक्षा 'व्यक्तिपात्र' की योजना से कहानी सहज ही अधिक रोचक और सुन्दर बन जाती है।

कहानी के कथोपकथन में वे ही गुण होने चाहिए जो उपन्यास में होते हैं। इनका संक्षिप्त और संगठित होना भी आवश्यक हैं। कहानी की भाषा विषयानुकूल, सरल, प्रवाहपूर्ण और मुहावरेदार होनी चाहिए। प्रयास या आडंबर पूर्ण भाषा कहानी का आनन्द बहुत कम कर देती है। पात्रानुसार भाषा में परिवर्तन हो जाने से उसकी स्वाभाविकता बढ जाती है। कहानी-लेखन की शैलियों मे वर्णानात्मक और आत्म-कथात्मक अधिक प्रचलित हैं। कुछ लेखक पत्र, डायरी और यात्रा-विवरण आदि के रूप में भी कहानी लिखते हैं। कुछ कहानियाँ केवल संवाद के रूप में लिखी जाती हैं। कहानी की रचना करते समय देश और कालसूचक कुछ संकेत न दिये जायें तो रचना दोषपूर्ण समझी जाती है। प्रत्येक देश के सांस्कृतिक आचार-विचार, जीवनादर्श, रीति-नीति आदि में अन्तर रहता है। यदि इस अंतर को सूचित न किया जाय तो पाठक भ्रम में पड कर वर्णन को अस्वाभाविक बताने लगेगा। अतएव 'देश-काल' संबन्धी संकेत कहानी में रहने से उसका महत्व और प्रभाव बढ़ जाता है। ऐतिहासिक या इतिहासाधारित कहानियों में देश-काल वर्णन का लेखक को विशेष ध्यान रखना चाहिए। कहानी उद्देश्य-प्रधान हो या न हो, इस संबन्ध में मत-भेद है। भारतीय परंपरा के लेखक और पाठक उसमें उद्देश्य संबन्धी केवल संकेत ही नहीं, कुछ नैतिक शिक्षा भी कहानी से देना-लेना चाहते हैं। कहानी -लेखक घटना, कार्य या भाव-विशेष का जो वर्णन या विशलेषण करना चाहता है, वह यदि सूक्ष्म और स्वाभाविक रूप से कर देता है तो उसकी रचना कला की दृष्टि से सफल समझी जाएगी। कहानी का उद्देश्य उपदेशरूप में नहीं होना चाहिए इतना ध्यान रखने की सैदव आश्यकता है।

संक्षेप में संक्षिप्त नाटकीय ढंग से किसी एक पात्र के जीवन में आनेवाले मोड का चित्रण ही कहानी है। कहानी ऐसी होनी चाहिए जिसकी घटनाओं में आकस्मिकता का अंश हो, जिसमें उनका क्षिप्रगति से अप्रत्याशित विकास दिखाया जाए तथा जो कुतूहल को बनाए रखती हुई चरम बिंदु पर पहूँच कर ऐसा दिखाए जो संतोषप्रद हो।

8. एकांकी-कला और उसके तत्वों का परिचय संक्षेप में दीजिएः-

संस्कृत में रूपक और उपरूपक के कुछ भेद भाण, अंक, व्ययोग, प्रहसन आदि-आधुनिक एकांकी की भाँति ही होते थे। उनके अनुकरण पर कुछ प्रयोग भारतेंदुयुग में किये भी गये थे। परंतु आधुनिक हिन्दी एकांकी का जिस रूप में आज विकास हुआ है, वस्तुतः वह पाश्चात्य अनुकरण का फल है। आज का एकांकी किसी प्रमुख घटनामात्र को लेकर लिखा जाता है। कथावस्तु कीसंक्षिप्तता के कारण उसमें पात्र भी कम होते हैं और सथान भी अनेक नहीं होते। फलतःसंकलनत्रय का सरलता से पालन किया जाता है। आधुनिक एकांकी यथार्थता, मनोवैज्ञानिक सत्यता और स्वाभाविकता पर आश्रित रहता हुआ साधारण जनता का मनोरंजन और ज्ञान वर्धन करता है। एकांकी और कहानी दोनों में कथा-वस्तु बहुत गठी हुई रहती है। मगर दोनों में रचना-प्रक्तिया की दृष्टि से अंतर है। एकांकी का तात्पर्य नाटक से ले लिये गये किसी अंक से नहीं है। वस्तुतः यह एक पूर्ण रचना होती है जिसमें कथानक पूर्वापर संबन्धों से पूर्ण होता है। एकांकी में एक घटना या सूत्र को लेकर कथा को विस्तार दिया जाता है। यही तत्व नाटक से उसकी भिन्नता सूचित करता है। एकांकीकार को इस बात का ध्यान रखना है कि वर्णित घटना विवरणमात्र न बनने पाये, वह जीवन के सुख-दुःख,सफलता-असफलता को प्रति-बिंबत कर सके। दूसरे शब्दों मे, एकांकीकार सीमित समय और सीमित उपकरणों द्वारा जीवन के पक्ष-विशेष की पूर्णता को अभिव्यक्ति देता है।

एकांकी में पात्रों की संख्या सामान्यतया चार -पाँच तक रहती है; परंतु लेखक का ध्यान एक ही पात्र-पात्री के व्यक्तित्व की विशिष्टता का उदघाटन करने में केन्द्रित रहता है। अभिनय केलिए अनेक रंगमंचीय संकेत भी अनेक लेखक अपने एकांकियों में देते हैं। साधारणतया एक घंटे से अधिक का समय एकांकियों में नहीं लगता। यह भी इनकी लोकप्रियता का एक कारण है।

एकांकी के पाँच तत्व हैं-कथा-वस्तु, पात्र और चरित्तांकन, संवाद या कथोपकथन, रंगमंच-निर्देश और प्रभाव की एकता। एकांकी की कथा अत्यन्त संक्षिप्त होती है। उसका वस्तु-विन्यास कलात्मक और कौतूहलवर्दधक होना चाहिए। एकांकी में वर्णन की अपेक्षा अभिनय-तत्व प्रधान होता है। एकांकी के कथा-विकास की चार दशायें हैं-निरूपण,अवरुंधन, उत्कर्ष और अपकर्ष । कथा-वस्तु का दूसरा मुख्य तत्व है 'संकलन त्रय'। इसका अर्थ है समय, कार्य और स्थान की एकता। एकांकी का सबसे प्रथम गुण उसका संक्षिप्त होना है। एकांकियों में कथानक, चरित्र-चित्रण आदि तत्वों का समोवेश संक्षेप से ही किया जाता है। एकांकी में पात्रों की संख्या कम से कम होनी चाहिए जिससे प्रत्येक पात्र के चरित्र की विशिष्टता उभरकर सामने आ सके। संवाद या कथोपकथन की योजना के दो उद्देश्य हैं-पात्रों के चरित्रांकन में योग और कथा के विकास में योग। एकांकी में संवाद प्राणतुल्य हैं; वे स्वाभाविक हों, प्रयास जन्य न हों। एकांकी की सफलता उसके सुपाठ्य होने में नहीं, अभिनीत होने में मानी जाती है। रंगमंच-विर्देशों के द्वारा एकांकी के अभिनय में सरलता हो जाती है। इसके अतिरिक्त रंगमंचीय निर्देशों द्वारा एकांकीकार पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का सांकेतिक उदघाटन भी करता है। एकांकी का अंतिम महत्वपूर्ण तत्व है प्रभाव की एकता । इस पर लेखक का ध्यान प्रारंभ से ही केन्द्रीत रहता है। जो सन्देश या समस्या एकांकीकार अपने नाटक द्वारा प्रस्तुत करना चाहता है यह स्पष्ट हो पायी है या नहीं, वैसे ही भाव वह पाठक या दर्शक के मन में जगाने में समर्थ हुआ है अथवा नहीं-यहीं 'प्रभाव की एकता' की कसौटी है। एकांकी में प्रभाव की एकता तभी संभव है जब उसमें उपरोक्त चार तत्वों का समुचित संयोजन हुआ हो।

यहाँ केवल इतना कहना है कि एकांकियों में कथानक अति संक्षिप्त, चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थ, कंथोपकथन व्यंजनाप्रधान चुटीले और सुसंगठित तथा वातावरण अवसरानुकूल होना चाहिए। वातावरण की सृष्टि केलिए आधुनिक एकांकियों में आरंभ में बडे विस्तृत रंग-संकेत दिये रहते हैं। एकांकी लिखने का उद्देश्य साहित्य के अन्य अंगों की तरह जीवन की व्याख्या करना है। लेखक जीवन की दैनंदिनी अपनी अनुभूतियों को एकांकी के माध्यम से चित्रित करता है और व्यंग्य से जीवन की त्रुटियों की और ध्यान दिलाता है। पाश्चात्य जगत में एकांकी नाटक समय की पूर्ति केलिए खेले जाते थे। वहाँ मुख्य नाटक के अभिनय के आरंभ के पहले आगन्तुकों के मनोविनोदार्थ कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाये जाते थे। इनको curtain raiser (पर्दा उठानेवाले) कहते थे। उनके समाप्त होने पर ही प्रधान नाटक का आरंभ होता था। आगे चल कर ये अधिक लोकप्रिय होने लगे। आधुनिक एकांकी नाटक इन्हीं से अवश्य प्रभावित हुए हैं। एकांकी जीवन की एक झाँकी मात्र देता है। विभिन्नता के बदले एकीकरण, विश्रृंखलता के बदले एकाग्रता, विस्तार के बदले संक्षिप्तता इसके मुख्य गुण हैं।

9. साहित्य का अर्थ समझाते हुए उसकी परिभाषा दीजिए और उसके क्षेत्र की व्यापता पर प्रकाश डालते हुए सिद्ध कीजिए कि समाज से उसका अन्योन्याश्रित संबन्ध है।

अपने चतुर्दिक जड और चेतन प्राणियों से किसी भी रूप में प्रभावित होकर भावुक मानव अपने अनुभूत भावों को अंतःप्रेरण से अभिव्यक्त करने केलिए कभी-कभी विवश हो जाता है। मानवीय भावों की यही शब्दाभिव्यक्ति 'साहित्य' है। यह अभिव्यक्ति लिखित और मौखिक दोनों प्रकार की हो सकती है। परंतू शास्त्रीय दृष्टि से साहित्य का तात्पर्य केवल लिखित साहित्य से ही समझना चाहिए। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों की दृष्टि में 'साहित्य' प्रायः 'काव्य' का समानार्थक और 'विज्ञान' से भिन्न माना गया है। पाश्चात्यों की सम्मति में जो कुछ लिखित है वह सब 'साहित्य' के अन्तर्गत है। अपने विशिष्ट अर्थ में 'साहित्य' के अन्तर्गत वे ही रचनायें आती हैं जिनमें भावों की प्रधानता हो और उसके व्यापक अर्थ में, सभी प्रकार का लिखित वाड्मय आ जाता है।

'साहित्य' का एक अनिवार्य लक्षण यह है कि वह 'सहित के भाव से युक्त' हो- "सहितस्य भावःसाहित्यं"। इस 'सहित' शब्द का संकेत दो प्रकार का है- 'सह' या साथ और 'सहित' अर्थात् 'हित से युक्त'। हितेन सह सहितं, तस्य भावः साहित्यं। तात्पर्य है कि साहित्य के सभी अंग-शब्द और अर्थ, विचार या भाव, अभिव्यक्ति आदि-में सह भाव का होना आवश्यक है। 'सहित' शब्द में 'हित' पर अधिक बल दियागया है। इस 'हित' का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। केवल ज्ञान,शिक्षा या उपदेश-लाभ ही नहीं, आनंदित या चमत्कृत होना आदि भी उसके अंतर्गत आ जाता है। साहित्य का प्रयोग उसके विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। साहित्य में उनहीं का वर्णन करना है जिनसे 'सहित' के दोनों संकेतों का निर्वाह हो सके;अर्थात् हित-साधन भी हो और उसके अंगों में सहभाव भी बना रहे। इस प्रकार शब्द, अर्थ और भाव का वह सम्यक् योग 'साहित्य' कहलाता है जिससे किसी भी प्रकार की हित-साधना संभव हो और उसके अंगों में सहभाव भी बना रहे। इस प्रकार शब्द, अर्थ और भाव का वह सम्यक् योग 'साहित्य' कहलाता है जिससे किसी भी प्रकार की हित-साधना संभव हो। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में साहित्य की परिभाषा यों दी गयी है- "श्रेष्ठतम विचारों की उपयुक्ततम शब्दों में लिपिबद्ध व्यंजना" साहित्य है। "Literature may stand for the best expression of the best thought reduced to writing".

भारतीय साहित्यकार सामान्यतया 'साहित्य' और 'काव्य' को पर्यायवाची मानते रहे हैं। उनकी दृष्टि में नाटक भी काव्य का एक रूप है और 'सहित' का निर्वाह होने पर भावपूर्ण गद्य-रचना भी 'गद्य-काव्य' है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में आज 'काव्य' का अर्थ है केवल 'कविता' और नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य आदि स्वतंत्र विधाएँ। यहाँ लेखक का उद्देश्य पाठक के हित का किसी भी रूप में संपादन करना है। इस प्रकार का साहित्य भाव प्रधान या रसात्मक होता है जिसे 'ललित साहित्य' भी कहते हैं। साहित्य का एक और रूप विचार चिंतन या विश्लेषण प्रधान होता है जिसे ज्ञान प्रधान भी कह सकते हैं। इसको 'साहित्य शास्त्र' भी कहते हैं। यह बात तो स्पष्ट है कि साहित्य केवल मनोरंजन ही नहीं करता, प्रत्युत जीवन के कई क्षेत्रों में मनुष्य को लाभ भी पहूँचाता है। काव्य या साहित्य से यश, धन, व्यवहार-ज्ञान इत्यादि हितों की सिद्धि होती है।

साहित्यकार भी, अन्य मानवों की तरह सामाजिक प्राणी होता है। साहित्यकार के सारे संस्कार समाज के बीच में ही होते हैं और अपने विचारों के सूत्र भी वह समाज से ही प्राप्त करता है। यही कारण है कि साहित्यकार समाज का मस्तिष्क और मुख माना जाता है। साहित्य और समाज का संबन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। फलतःसाहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब

माना जाता है। यह लोक-रुचि की संचित प्रतिच्छाया है। साहित्य जीवन-विटप का उत्तम फल है। साहित्य समाज का छाया-चित्र भी है। किसी भी समाज के इतिहास का निर्माण उसकी भौगोलिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ करती हैं। साहित्य केवल सामाजिक उन्नति को ही प्रतिबिंबत नहीं करता,बल्कि उसकी हीनावस्था को भी बतलाता है। प्रेमचन्द के उपन्यास अपने समय के ग्रामीणों की दयनीय दशा का सच्चा परिचय देते हैं। विभिन्न क्रांतियों के प्रेरक उत्कृष्ट साहित्य-निर्माता ही रहे हैं। फलतःयास्काचार्य ने लिखा है- "कविःक्रान्तदर्शी" -अर्थात जिसे क्रान्तदर्शन होता है,जो आगामी युग के तत्वों का दर्शन करता है,वही कवि है। तात्पर्य यह है कि कवि को अतीत का गैरव गान करनेवाला, वर्तमान का यथार्थ विचार करनेवाला और भविष्य का दृष्टा कहा जाता है। 'साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है'।

जिस प्रकार समाज साहित्य को प्रभावित करता है उसी प्रकार समाज भी साहित्य द्वारा परिचालित होता है। साहित्यकार ही समाज को उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहूँचा सकता है। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के उदाहरणों का अभाव नहीं है। वर्तमान युग में तो साहित्यकारों का दायित्व और भी बढ़ गया है; क्यों कि इस बुद्धि प्रधान युग में विचारों का प्राधान्य है। समस्त परिवर्तनों का मूल विचारों में ही निहित रहता है। विचारों का सर्वाधिक प्रचार साहित्य के माध्यम से होता है। अतएव साहित्य और समाज का अन्योन्यश्रित संबन्ध है। दोनों का अटूट संबन्ध माना जाता है। साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर उठती है तो साहित्यकार केलिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है;पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का हो कर भी सार्वभौमिक रहता है। यही सार्वभौमिकता साहित्य को चिरंजीवी बनाती है।

10. शब्द-शक्ति किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं?सोदाहरण विवरण दीजिए।

भाषा ही मनुष्य केलिए विचारों के आदान-प्रदान का एक विशिष्ट साधन है। किसी भी अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ का होना आवश्यक है। शब्द विहीन अर्थ और अर्थ विहीन शब्द की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। वाक्यों में प्रयुक्त सार्थक शब्द के अर्थ-बोधक व्यापार के मूल कारण को शब्द-शक्ति कहते हैं। अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा शब्दों से अर्थ बोधित होता है उसे शब्द-शक्ति कहते हैं। शब्द बोधक है, अर्थ बोध्य और अर्थ-बोध करानेवाला व्यापार शब्द-शक्ति है। चूँकि अर्थ तीन प्रकार का है-वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ- इसलिए अर्थ-बोध करानेवाली शक्ति भी तीन प्रकार की है-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

(1) <u>अभिधा शब्द-शक्तिः-</u>

शब्द की जिस शक्ति से उस शब्द का स्वाभाविक अर्थ ज्ञात होता है उसे अभिधा शब्द-शक्ति कहते हैं। इस से ज्ञात अर्थ को वाच्यार्थ तथा उस शब्द को वाचक कहते हैं। सीधा स्पष्ट कथन अभिधा की खास विशेषता है। इस शक्ति का बोध कराने वाले प्रमुख साधन हैं व्याकरण, कोश, व्यवहार, आप्तवाक्य आदि। यह शक्ति मुख्यार्थ तक सीमित है, चाहे। कोई वाचक शब्द एकार्थ हो या अनेकार्थ। एकार्थ शब्दों का अर्थ सीमित रहता है। अतःउनके विषय में किसी भी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है। जहाँ एक ही शब्द अनेकों अर्थों पर संकेतित है वहाँ अर्थ-निर्णय संयोगादि से जाना जा सकता है। संयोगादि व्यापार बारह हैं-संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, प्रसंग, चिहन, सामर्थ्य औचित्य, देश और काल। उदाः- 'सैंधव' शब्द के दो

अर्थ है-घोडा और लवण। जाते वक्त जब मालिक 'सैंधव लाओ' कहता है तो नौकर घोडे को खडा करेगा और खाते वक्त सैघव लाओ कहेगा तब नमक ला कर के देगा। यहाँ प्रकरण ही निर्णायिका शक्ति है। हिन्दी में कुछ विदेशी शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं जो रूप में हिन्दी के अपने शब्दों से मिलते-जुलते होते हुए भी समानार्थक नहीं होते । उनका भी अर्थ प्रसंगानुसार मूल भाषा का जैसा ग्रहण किया जाता है। जैसेः- "परम रम्य आराम यह जो राम ही सुख देत" ।-यहाँ 'आराम' शब्द का अर्थ प्रसंगानुसार 'बाग' ही होगा। दूसरा अर्थ सुख या चैन हो जायेगा।

2. लक्षणा शब्द-शक्तिः-

शब्द की जिस शक्ति के कारण प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड कर मुख्यार्थ की बाधा से बचने केलिए एक दूसरे अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ लक्षणा है। अतः मुख्यार्थ का ज्ञान होने के उपरांत बाधा पडने पर उससे संबन्धित अन्य अर्थ का बोध करानेवाले शब्द-व्यापार को लक्षणा शब्द-शक्ति कहते हैं। उदाः- 'यदि बृहस्पति भी आ जायँ तो ऐसे उल्लुओं को नहीं समझा सकते' । इस वाक्य में 'उल्लू' शब्द स अत्यंत मूर्ख व्यक्ति अभिप्रेत है। अभिधा शक्ति से अभिप्रेत अर्थ पक्षी विशेष से नहीं लिया जाता। लक्षणा शक्ति से विदित होनेवाले अर्थ केलिए तीन बातों का होना आवश्यक है -

(1) मुख्यार्थ से अभिप्रेत अर्थ ग्रहण करने में बाधा पडना

(2) इसलिए उसका और ही अर्थ ग्रहण किया जाय जो मुख्यार्थ से संबन्ध रखता हो।

(3) इस अन्य अर्थ ग्राहण करने में या तो कोई विशेष प्रयोजन हो या इस अर्थ के अगीकार करने के पीछे कोई रूढि या परंपरा हो।

लक्षणा के प्रधानतया दो प्रमुख भेद माने गये हैं-रूढा और प्रयोजनवती। प्रयोजनवती के भी दो भेद हैं-गौणी और शुद्धा। गौणी के भी दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। शुद्धा के चार भेद हैं-सारोपा,साध्यवसाना, जहत स्वार्था और अजहत्सवार्था। कुछ आचार्य रूढा के भी भेद गौणी और शुद्धा के रूप में मानते हैं। इस प्रकार लक्षणा के आठ भेद होते हैं-रूढा गौणी, रूढा शुद्धा, प्रयोजनवती गौणी सारोपा, प्रयोजनवती गैणी साध्यवसाना, प्रयोजनवती शुद्ध सारोप, प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना, प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था और प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्थ ।

(1) रूढा गौणीः- वह चौकन्ना है - इस वाक्य में 'मुख्यार्थ' 'चार कानोंवाला' की बाधा है; इसलिए लक्ष्यार्थ 'सावधान' पर लक्षण है।

(2) रूढा शुद्धः- इसमें मुख्यार्थ में बाधा पडने पर लक्ष्यार्थ रूढ याने परंपरा से नियत हो गया हो। उदाः- 'पंजाब वीर है'-इस वाक्य में 'पंजाब' शब्द अपने मुख्य अर्थ 'पंजाब देश' को छोडकर रूढ अर्थ 'पंजाब के निवासी' में लक्षित है, इसलिए यहाँ रूढा लक्षणा है।

प्रयोजनवती गौणी सारोप में वाचक शब्द से अभीष्ट का प्रयोजन न हो सके तो लाक्षणिक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से होता है। जैसेः- 'देवदत्त गधा है'-यहाँ गधा शब्द का अर्थ 'मूर्ख' लिया जाता है।

'प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना' में उपमेय का कथन किये बिना केवल उपमान के ही ज़रिए लक्ष्यार्थ का बोध कराया जाता है। 'ऐसे गधों को कौन समझावे'-इस वाक्य में उपमेय व्यक्ति का उल्लेख नहीं, उसका भाव केवल उपमान के द्वारा ही स्पष्ट होता है।

प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा में लक्षणा किसी विशेष प्रयोजन से होती है। यहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का संबन्ध सादृश्य नहीं रहता; दूसरा ही रहता है। उपमेय और उपमान का भिन्न शिब्दों से उपादान होता है। उदाः- 'घी मेरा जीवन है'। यहाँ 'घी' शब्द का मुख्यार्थ है दूध का रस और लक्ष्यार्थ है 'जीवन-शक्ति का कारण' । यहाँ दोनों में कार्य-कारण संबन्ध है। इसलिए शुद्धा लक्षणा है। घी और जीवन का पृथक - पृथक उल्लेख होने के कारण सारोपा है।

प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना में किसी न किसी प्रयोजन से लाक्षणिक प्रयोग होता है और मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्य संबन्ध के अतिरिक्त और कोई संबन्ध होता है। उदाः- 'मेरा जीवन डुल गया है' -इसमें वाच्यार्थ जीवन शक्ति है और लक्ष्यार्थ 'जीवन-शक्ति का कारण'।

प्रयोजनवती शुद्ध अजहत्स्वार्था लक्षण उस स्थान में होती है जहाँ किसी प्रयोजन से लक्षणा होती है और मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्य के अतिरिक्त दूसरा संबन्ध भी होता है। उदाः- 'आम तो आम ही है' - यहाँ पहले आम शब्द का वाच्यार्थ आम है और दूसरे आम शब्द का लाक्षणिक अर्थ है - 'सरसतामधुरतादि गुणयुक्त आम'। यहाँ लक्ष्यार्थ में स्वार्थ का त्याग होता नहीं।

प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था में लाक्षणिक प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य से होता है। लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराके मुख्यार्थ का ग्रहण ही नहीं कराता। 'गंगा पर आश्रम है'। यहाँ गंगा का मुख्यार्थ है 'जल-प्रवाह'। उस पर आश्रम के न हो सकने के कारण वह गंगा तटरूपी अर्थ पर लक्षित होता है। यहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सामीप्य संबन्ध है। कुछ लोग इसको लक्षण लक्षणा का नाम भी देते हैं। लक्षणा के अंतर्गत एक विपरीत लक्षणा का प्रयोग भी चलता है। किसी मूर्ख को देख कर आगर हम कहें कि आप विद्धान हैं तो यहाँ विपरीतार्थ 'मूर्ख' का ही बोध हो जायेगा।

3. व्यंजनाः-

जिस अर्थ का बोध अभिधा और लक्षणा व्यापार से नहीं हो सकता उस अर्थ का बोध करानेवाले व्यापार को व्यंजना कहते हैं। यह व्यंजना वृत्ति, व्यंजना शक्ति या व्यंजना व्यापार भी कहलाती है। व्यंजना से प्रतीत होने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ है और उस अर्थ का बोध करानेवाला शब्द व्यंजक। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कहता है- 'तुम्हारे मुख से शाठता झलकती हैं' -तब सुननेवाला उत्तर देता है- 'मुझे आज ही मालूम पडाकि मेरा मुँह दर्पण हैं' - यहाँ न अभिधा काम करेगी और न लक्षणा। व्यंजना ही यहाँ कारगर है। उत्तर देनेवाले का यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार आइने पर प्रतिबिंब दीख पडता है ठीक वैसे ही यहाँ श्रोता पर वक्ता का मुंख दीखता है याने वक्ता ही मूर्खों का राजा है।

लक्षणा और व्यंजना में थोडा भेद है। लक्षणा में वाच्यार्थ की असंगति होना आवश्यक है, व्यंजना में यह बात नहीं। लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ या मुख्यार्थ के साथ कोई न कोई संबन्ध होना आवश्यक है। व्यंजना में ऐसा नियम नहीं है। लक्षणा से एक ही अर्थ का बोध होता है जब कि व्यंग्यार्थ एक प्रकार का नहीं, किन्तु कई प्रकार का होता है।

व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं -शाब्दी व्यंजना और आर्थीव्यंजना ।जहाँ व्यंजना शब्दाश्रित है याने किसी निश्चित शब्द पर आश्रित रहती है और शब्द के हटाये जाने पर न रहती वहाँ शाब्दी व्यंजना है। आर्थी व्यंजना वहाँ होती है जहाँ व्यंजना शब्दाश्रित न रह कर अर्थोश्रित रहती हो। यहाँ एक शब्द के स्थान में दूसरा शब्द रखने पर भी व्यंजना की प्रतीति निर्बाध रहती है। आर्थी व्यंजना

के भी दो भेद होते हैं-लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्ष्यार्थ-प्रतीति के बाद जहाँ व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ लक्षमामूला व्यंजना है। 'यह गीत गीत ही हैं' - यहाँ दूसरे गीत शब्द के प्रयोग का प्रयोजन माधुर्य, सरसता आदि की प्रतीति है और यह व्यंजना से ही होती है। वाच्यार्थ बोध के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति जहाँ होती है वहाँ अभिधामूला व्यंजना है।

व्यंजना के और भी तीन भेद किये जा सकते हैं-वस्तु-व्यंजना, अलंकार-व्यंजना और रस-व्यंजना। 'सूर्य छिप गया' कहने पर चोर को चोरी करने निकलने की सूचना मिलती है। यह वस्तु व्यंजना है। जिस व्यंजना में व्यंजना में व्यंजित तथ्य का रूप अलंकार के रूप में मिलता है उसे अलंकार व्यंजना कहते हैं। जिस व्यंजना में हृदय के किसी मनोविकार या भाव की व्यंजना हो वहाँ भाव-व्यंजना होगी। जिस भाव -व्यंजना में रस की सिद्धि के उपादन स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव व संचारी भाव होंगे उसमें रस-व्यंजना होगी।

काव्य या साहित्य विशाल जन - समुदाय केलिए मनोरंजन का उपयुक्त साधन रहा है। काव्य के अंतर्गत सरसता, चमत्कार एवं प्रभाविष्णुता की दृष्टि से अभिधा की अपेक्षा लक्षणा का प्रयोग श्रेष्ठ समझा जाता है। लक्षणा से भी अधिक उत्कृष्टता व्यंजना शब्द-शक्ति के प्रयोग से संभव है। व्यंजना के प्रयोग से साधारण सी बात भी बहुत प्रभावशालिनी सिद्ध होतीं है। किसी कटु अथवा अशिष्ट बात को भी व्यंजना के द्वारा सौम्य और आकर्षक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। व्यंग्य प्रधान काव्य उत्तम कोटि का काव्य माना जाता है।

II Short Answer Type Questions - टिप्पणियाँ

1. रस-विवेचन, रस -निष्पत्तिः-

कमनीय काव्य के पढने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से हमारे चित्त में जो अलौकिक आनंद उन्मीलित होता है उसे 'रस' कहते हैं। यह 'काव्यानन्द' ब्रहमानंद सहोदर माना जाता है। दर्शक, पाठक और श्रोता में मनोभाव संस्कार रूप में रहते हैं। यह संस्कार बार-बार किसी वस्तु को अनुभव करने से होता है। भावों की भिन्नता के अनुसार रसात्मक अनुभव बदलते रहेंगे और रुचि भी भिन्न–भिन्न विषयों पर जमी रहेगी। काव्यानन्द जब चरमसीमा पहूँचता है तब हम अपनी परिस्थिति और व्यक्तित्व बिलकुल भूल जाते हैं। जब बाहरी घटनाएँ दिल में प्रवेश करके दिल के अन्दर छिपी भावनाओं को जगाती तब रसावेश हो जाता है। ब्रहमानंद नित्य है तो काव्यानंद क्षणिक रहता है। कारण के हटते-हटते काव्यानंद भी हट जाता है। आचार्य भरत मुनि ने यह अभिमत दिया है- "विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः"। अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायी भावों को रस कहते हैं। रस को भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने काव्य का प्राण तत्व माना है।

2. रसावयव :-

आचार्य भरत मुनि ने बहुत पहले ही रस के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि रस के बिना किसी अर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं होती । इसलिए रस काव्य का प्रधान अंग माना गया है। भरत मुनि के रस-सूत्र में प्रयुक्त स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, और संचारी या व्यभिचारी भाव रसावयव माने जाते हैं।

स्थायी भावः-

मानव-हृदय में वासना रूप में स्थित मनाविकारों को काव्य में स्थायी भाव की संज्ञा दी गयी है। मानव हृदय के ये मूल भाव हैं।ये स्थायी भाव स्थायी रूप से चित्त में रहते हैं। आचार्यों ने

स्थायी भावों की संख्या नौ मानी है। जैसेः-रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इनसे क्रमशःश्रृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शांत रस की निष्पत्ति होती है।

विभावः

मानव अपने हृदय में स्थित काम, क्रोध, भय आदि भावों का अनुभव विशेष कारण से करता है। जो कारण इन भावों को जाग्रत करते हैं वे विभाव कहलाते हैं। विभाव के दो भेद हैं- आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव। जिनका आलंबन ले कर हृदय में स्थित भावों की जागृति होती है, उन्हें आलंबन विभाव कहते हैं। आलंबन का अनुभव आश्रय में होता है। वे उपकरण, वस्तुएँ अथवा वातावरण जिनसे उत्पन्न भाव को और भी अधिक उत्कर्ष मिले-उद्दीपन विभाव के अंर्तगत आयेंगे। रति भाव को आलंबन का अनुभव सौंदर्य, मादक चाँदनी, नदी का किनारा आदि अधिक उद्दीप्त करते हैं। प्रत्येक रस के आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव अलग-अलग होते हैं।

आनुभावः- "अनुभावयन्ति इति अनुभावा" -अर्थात स्थायीभावों का अनुभव करानेवाले अनुभाव कहलाते हैं। भावोद्रेक होने पर आश्रय कुछ क्रियायें करता है, क्यों कि भाव जाग्रत हो कर सक्रिय हो जाता है-ये क्रियायें ही अनुभाव कहलाती हैं, आचार्यों ने अनुभावों के प्रमुख चार भेद माने हैं- कायिक, मानसिक, सात्विक, आहार्य।

संचारी भावः- मानव-हृदय में कछ भाव ऐसे भी होते हैं जो अल्प समय में उत्पन्न हो कर विलीन हो जाते हैं। ये संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये स्थायी भाव को पुष्ट करन केलिए उत्पन्न होते हैं और जल में बुदबुद की तरह उत्पन्न हो कर विलीन हो जाते हैं। संचारी भावों की संख्या तैंतीस मानी गयी है, जैसेः-निर्वेद, ग्लानि, विषाद आदि।

3. रसराज श्रृंगारः-

नौ रसों में श्रृंगार की प्रधानता है। भरत आदि आचार्यों ने इसकी सर्वप्रथम गणना की है। इसे आदि रस कहतै हैं और रसराज भी। कारण यह है कि इसकी तीव्रता और प्रभावशीलता सब रसों से बढ़ी-चढी है। इसलिए इसकी व्यापकता सर्वोपरि है। श्रृंगार का स्थायी भाव रति है। रति प्रत्येक प्राणी का शाश्वत भाव है। रति का आधार है 'काम' और यह 'काम' पशु-पक्षी तथा मानव में समान रूप से विद्यमान है। 'ध्वन्यालोक' में आनंदवर्धन ने स्पष्ट रूप से बताया है कि श्रृंगार संसार के सभी स्त्री-पुरुषों के अनुभव का विषय है और लोगों के मन को हरनेवाला भी है। श्रृंगार रस की सरसता और कमनीयता ने ही इसे आकर्षकत्व प्रदान किया है। श्रृंगार के भेदों और उसके अनुभाव, संचारी आदि का जितना विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन लक्षण ग्रंथों में किया गया है उतना अन्य किसी रस का नहीं।

श्रृंगार रस के दो पहलू हैं-संयोग और वियोग जो अन्य किसी भी रस में संभव नहीं होता। श्रृंगार में वियोग या विप्रलम्भ का ही अधिक महत्व होता है। बिना वियोग के संयोग में तीव्रता नहीं होती। विप्रलम्भ श्रृंगार की जितनी अधिक दशाओं का विस्तृत विवेचन लक्षण ग्रंथों में हुआ है उतना अन्य किसी रस का नहीं। आलस्य, उग्रता, मूर्च्छा, मरण आदि दशायें जो संयोग में वर्जित मानी जाती है, वियोग में आ जाती है। इस रसानुभूति का आनंद शिक्षित-अशिक्षित, रसिक-अरसिक, सभ्य-असभ्य, नागरिक देहाती सब प्रकार के मनुष्यों को प्राप्त होता है। श्रृंगार रस साहित्य का जीवन है। वह वास्तव में रसराज है। उसके अभाव में कविता का हरा-भरा उद्यान उजड जायेगा और काव्य मरुस्थल कहलायेगा।

4. शान्त और वात्सल्य रस का परिचय दीजिएः-

सांसारिक जीवन की असारता तथा परमात्मा की महत्ता का ज्ञान होने के साथ-साथ मन को ऐसा अनुभव होता है जिसे निर्वेद कहते हैं। यह निर्वेद विभावनाभाव व्यभिचारी भावों के संयोग से पुष्ट हो कर शान्त रस दशा को पहुँचता है। आलंबन-अनित्य और असार संसार।

उद्दीपन-कथा-पुराणा-श्रवण, तीर्थ-स्नान, सत्संग आदि। अनुभाव-विषयों से अरुचि, शत्रु-मित्र समानता, गृह-त्याग आदि। संचारी भावः-धैर्य,स्मृति, विशेध, हर्ष आदि।

वात्सल्य दसवाँ रस माना जाता है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त वत्सल स्थायी भाव वात्सल्य कहलाता है। इसमें आलंबन शिशु है,उद्दीपन-बच्चों की तोतली बोली करना, खेलना, कूदना आदि हैं। हँसना, पुलकित होना आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। वात्सल्य के दो पक्ष होते हैं-संयोग और वियोग।

5. रसात्मक उक्तियाँः-

रस के अलावा रसात्मक उक्तियाँ सात प्रकार की होती हैं-भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भाव शबलता।

1. **भावः**-जहाँ, गुरु, माता-पिता आदि के बारे में प्रेम भाव या कोई संचारी भाव उत्कटतया व्यंजित होता है वहाँ भाव है।

2. **रसाभासः**-जहाँ किसी रस के परिपाक में अनौचित्य प्रतीत हो वहाँ रसाभास होता है। यहाँ भी विभावानुभाव व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी की अभिव्यक्ति होती है;किन्तु उसके प्रकट होने में आनौचित्य के आ जाने से रस कोटि तक पहूँच नहीं सकता । जब रस प्रतीति धर्म, लोक और समाज की मर्यादा के विरुद्ध मालूम पडती है तब रसाभास होता है। नौ रसों में यह आभास हो सकता है। खलनायक के प्रतिनायिका का, गुरु-पत्नी के प्रति शिष्य का, नीच पात्र के प्रति उत्तम पात्र का प्रेम श्रृंगार रसाभास है।

3. **भावाभासः**- देवादि विषयक रति या दूसरा व्यभिचारी भाव अनुचित रीति से जहाँ हो वहाँ भावाभास हो सकता है।

4. **भावशान्तिः**-एक भाव जहाँ दुसरे भाव के उदय से शांत होता है तथा चमत्कार जनक रहता है वहाँ भावशान्ति है।

5. **भावोदयः**-एक भाव की शान्ति के बाद जहाँ दूसरे भाव की उत्पत्ति हो वहाँ भावोदय होता है।

6. **भाव सन्धिः**- जहाँ दो भावों की उपस्थिति एक साथ हो वहाँ भावसन्धि हो।

7. **भावशबलताः**- अनेक भावों का चमत्कार जनक सम्मेलन भावशबलता है। इन अनेक भावों के आस्वादन में एक परम विलक्षणता आ जाती है। इस प्रकार रसात्मक उक्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं।

(6) काव्य में अलंकार का स्थानः-

काव्य में अलंकार का प्रयोग बहुत कुछ मनोविज्ञान पर आधारित है, क्यों कि उन्हें काव्य में रस भाव के सहायक होने हैं। अलंकार रस के प्रभावोत्पादक ही होते हैं। मनुष्य स्वभावतः सौंदर्यप्रिय होता है। इसलिए काव्य के सौंदर्य-संपादन में अलंकारों का भी योगदान माना जाता है।

अलंकार काव्य में तो सदा विद्यामान रहता है, स्फुट रूप से न सही, अस्फुट रूप से ही। अतः अलंकार और अलंकार्य काव्य के दो पक्ष माने जाते हैं। अलंकार्य जिसके अंतर्गत रस आदि है, भाव पक्ष से संबन्धित है और अलंकार कलापक्ष से। दोनों का अन्योन्याश्रित संबन्ध है। लेकिन काव्य की अंतरात्मा रस है।

सामान्यतः अलंकार का अर्थ है आभूषण। जिस प्रकार आभूषण स्त्री के शरीर के सौंदर्य को बढाते हैं उसी प्रकार कविता की सुन्दरता की वृद्धि अलंकारों द्वारा होती है। उत्कृष्ट काव्य वही माना जाता है जो पाठकों को अधिक से अधिक प्रभावित कर सकें। अलंकारों के प्रयोग से कवि की उक्ति में वह शक्ति आ जाती है कि पाठक उसकी और आकृष्ट हो कर उसमें तन्मय हो जाता है। भामह के समय से लेकर अलंकार काव्य का एक अंग मान लिया गया। किंन्तु काव्य में काव्यत्व अलंकारों के अभाव में भी हो सकता है। अतः अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व समझना निश्चय ही भूल होगी। काव्य की आत्मा रस है और इस आत्म रूप रस के उत्कर्ष में सहायक उपादानों में अलंकार भी एक है। इसीलिए आचार्यों ने अलंकारों को आभूषणों की भाँति सौंदर्य वृद्धि के सहायक उपादान के रूप में स्वीकार किया है। रस रहित काव्य में अलंकार भी निरर्थक है। अलंकारों से युक्त कविता तभी प्रभावोत्पादक होगी जब कि वह रससिक्त हो। फलतः अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं, नित्य धर्म नहीं। उनकी स्थिति काव्य में आवश्यक तो है, लेकिन अनिवार्य नहीं।

7. अलंकारों के भेदः-

भारतीय काव्य-शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्य -शास्त्र' में केवल चार अलंकारों-उपमा, रूपक, दीपक और यमक का ही उल्लेख किया है। महर्षि व्यास ने अलंकारों की संख्या सोलह मानी है। भामह कृत 'काव्यालंकार' में अडतीस अलंकारों का उल्लेख मिलता है। इसके बाद अलंकारों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती रही। उद्भट,दण्डी, वामन आदि आचार्यों के समय में अलंकारों की संख्या बावन हो गयी। यही संख्या रुत्यक, रुद्रट, मम्मट, भोज आदि के समय में एक सौ तीन हो गयी। पंडितराज जगन्नाथ के समय यह संख्या 161 तक पहूँच गयी थी। आज अगणित अलंकार हैं।

आचार्य रुत्यक ने अपने 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ में निम्न सात कोटियों में इन अलंकारों को विभाजित किया है।

1. सादृश्य मूलकः-इस वर्ग में उत्प्रेक्षा आदि 28 अलंकार आते है।
2. विरोध मूलकः-विरोध, विभावना, असंगति आदि बारह अलंकार।
3. श्रृंखला मूलकः-कारणमाला, एकावली आदि।
4. न्याय मूलकः-काव्य-लिंग और अनुमान।
5. काव्य न्यायमूलकः-परिसंख्या, समाधि आदि आठ अलंकार।
6. लोक न्याय मूलकः-प्रतीप, मीलित आदि छ अलंकार।
7. गूढार्थ प्रतीति मूलकः-सूक्ष्म, व्योजोक्ति और वक्रोक्ति।

आचार्य रुत्यक का वर्गीकरण वैज्ञानिक है, फिर भी अन्य आचार्यों ने सुविधा की दृष्टि से अलंकारों की तीन कोटियों का विवेचन किया है:-

1. शब्दालंकारः-.यहाँ अलंकारगत रमणीयता शब्द-प्रयोग पर आश्रित है।

2. अर्थालंकारः-यहाँ अलंकार का सौंदर्य अर्थ में निहित है।

3. उभयालंकार :-यहाँ शब्दगत और अर्थगत दोनों ही कोटि के चमत्कार रहते हैं।

अनुप्रास, यमक,श्लेष, वक्रोक्ति आदि शब्दालंकार हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, सन्देह, अन्योक्ति आदि साम्य मूलक अर्थालंकार हैं। विरोधाभास, विभावना, विषम आदि विरोधामूलक अलंकार हैं। कारणमाला, मालादीपक आदि श्रृंखलामूलक अर्थालंकार हैं। परिसंख्या, काव्य लिंग आदि न्यायमूलक अर्थालंकार हैं। अतिशयोक्ति कारण -कार्य संबन्ध मूलक है। अपहनुति, व्यतिरेक आदि अलंकार निषेध मूलक अर्थालंकार हैं। पर्यायोक्ति, समासोक्ति, व्याजस्तुति आदि गूढार्थ प्रतीति मूलक अर्थालंकार हैं। उपमेय, उपमान, साधारणाधर्म और वाचक-शब्द अलंकारों के चार अंग होते हैं।

अभ्यासः- टिप्पणियाँ लिखिएः-

(1) अनुप्रास, (2) यमक, (3) श्लेष, (4) उपमा, (5) रूपक,

(6) उत्प्रेक्षा, (7) प्रतीप, (8) समासोक्ति, (9) विभावना,

(10)निदर्शना, (11) अतिशयोक्ति, (12) अन्योक्ति, (13) अपहनुति

(14) अर्थोपत्ति, (15) समासोक्ति।

(8) छन्द की परिभाषा देकर निम्न लिखित पर टिप्पणियाँ लिखिएः-अक्षर, मात्रा, यति, लघु, गुरु, गण, तुक।

छन्दः- 'छन्द' का अर्थ होता है 'बाँधना'। इसलिए कोई उक्ति जब एक विशेष लय, मात्रा या वर्ण-योजना में बंध जाती है तो उसे 'छन्द' कहते हैं। छन्द स्वयं तो बंधे रहते हैं, पर ये रस तथा भाव प्रकट करने और इन्हें एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहूँचाने में बडी सहायता करते हैं। यही कारण है कि काव्य में छन्द को इतना महत्व दिया जाता है।

छन्द के भेदः-छन्द दो प्रकार के होते हैं-वार्णिक और मात्रिक। वार्णिक छन्दों में वर्णों (अक्षरों) के विशेष क्रम या योजना का महत्व होता है; पर मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना होती है। वार्णिक छन्दों को वर्ण-वृत्त भी कहते हैं। इन्द्रवज्रा, मालिनी, मंदाक्रान्ता आदि वार्णिक छन्द हैं एवं दोहा, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छन्द भी।

मात्रिक और वार्णिक छन्दों के और भी तीन भेद माने जाते हैं-सम, अर्ध सम और विषम। जिस छन्द में चारों पाद समान हों उसे सम कहते हैं। जैसेः-विद्यून्माला जिसका पहला और तीसरा, दूसरा और चौथा चरण कमान हों वह अर्धसम है। दोहा और द्रुतमध्या इसके उदाहरण हैं। जिस छन्द के चारों चरण भिन्न लक्षण के हों वह विषम है। साधारण वार्णिक छन्द 26 वर्णों तक और साधारम मात्रिक छन्द 32 मात्रा तक है। 26 से अधिक वर्णवाले वार्णिक वृत्तों को वार्णिक दण्डक और 32 से अधिक मात्रावाले छन्दों को मात्रिक दण्डक कहते हैं।

अक्षरः-स्वर व्यंजन को अक्षर कहते हैं। छन्द शास्त्र में स्वर रहित व्यंजन अक्षर नही माना जाता ।

मात्राः- अक्षरों के उच्चारण में जो समय लगता है उसको मात्रा कहते हैं। कुछ अक्षरों के उच्चारण में एक ही मात्रा लगती है और कुछ के उच्चारण में दो मात्रायें। ह्रस्व स्वर जैसेः-अ, इ,उ आदि एकमात्रिक हैं और दीर्घ स्वर आ, ई,ऊ आदि द्विमात्रिक हैं।

यतिः- इसे विराम भी कहते हैं। छन्द पढते समय जगह-जगह पर ठहरना पडता है। इस प्रकार के ठहराव को यति कहते हैं। ऐसी यति अक्सर पादों के अन्त में ही लगती है। लंबे चरणों के बीच-बीच में भी यति आती है। अलग-अलग छन्द मे अलग-अलग यति नियम है। इस नियम में बाधा आती है तो यति-भंग कहलाता है, जो बडा दोष माना जाता है।

लघुः-अनुस्वार तथा विसर्ग से रहित ह्रस्व स्वर को लघु कहते हैं।

गुरुः-दांघ स्वर गुरु कहलाता है। अगर ह्रस्व स्वर क आगे संयुक्त व्यंजन आता है तो उसे भी 'गुरु' कहते हैं। अनुस्वार और विसर्ग सहित ह्रस्व स्वर भी गुरु ही माना जायेगा। कभी-कभी पाद के अन्तिम लघु को भी गुरु मानना पडेगा। गुरु का चिहन वक्र-रेखा है और लघु का श्रजु रेखा।

गणः-छन्द के लक्षणों को याद रखने की सुविधा केलिए गण - विभाग किया गया है। तीन-तीन अक्षरों का एक-एक गण होता है। गण आठ माने जाते हैं-सर्वगुरु मागण, सर्व लघु नगण, आदि गुरु भगण, मध्य गुरु जगण, अन्त गुरु सगण,आदि लघु यगण, मध्य लघु रगण और अन्त लघु तगण हैं।

तुकः-छन्दों के वर्णों के अन्त में जब एक ही व्यंजन या स्वर आया करता है, उस अक्षर की समता को 'गुरु' कहते हैं। हिन्दी में तुकान्त कविताओं की ही अधिकता है। पर आज कल संस्कृत की देखा -देखी भिन्न तुकान्त क़विता की रचना भी होने लगी है। हिन्दी में छःप्रकार की तुकान्त कविता देखने को मिलती है - सर्वान्त्य, सामान्त्य, विषमान्त्य, विषमान्त्य समान्त्य, समविषमान्त्य और विषम समान्त्य।

(9) मुक्त छन्दः-

मुक्त छन्द का प्रयोग हिन्दी काव्य में एक विद्रोह का प्रतीक रहा है, क्यों कि इसमें परंपरागत अनेक नियमों का अतिक्रमण किया गया है। चरणों की अनियमित, असमान स्वचछंद गति व भावानुकूल यति ही मुक्त छन्द की मुख्य विशेषताएँ हैं। मुक्त छन्द की कल्पना छायावाद युग में प्रारंभ हुई। इसका श्रेय प्राथमिक रूप से प्रसाद को एवं प्रमुख रूप से निराला को दिया जाता है।

मुक्त छन्द का तात्पर्य छन्द विहीन रचना नहीं;अंग्रेज़ी और बंगला साहित्य में विकसित उन्मुक्त छन्द ने हिन्दी के इस मुक्त छन्द की उद्भावना एवं स्थिति में पर्याप्त प्रेरणा दी। निराला ने ' प्रबन्ध-प्रतिमा' में लिखा है- "भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है, यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वतंत्र हैं"। मुक्त छन्द तो वे हैं जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त हैं। पंतजी ने भी "खुल गये छन्द के बन्ध" द्वारा छंद-बंधन से मुक्ति का उद्घोष किया। वस्तुतः मुक्त छन्द का अर्थ पूर्णतया स्वच्छंदता की प्रवृत्ति नहीं। इसकी स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिहास करते हुए इसे 'कंचुआ छन्द', 'रबड छन्द' आदि भी कहा गया है। वस्तुतः मुक्त छन्द बाह्य एकता के विरुद्ध कविता की आन्तरिक एकता पर बल देता है, जो प्रत्येक काव्य-रचना केलिए सत्य है। सप्रति वार्णिक मुक्त छन्द और मात्रिक मुक्त छन्द दोनों हिन्दी में स्वीकार्य हुए। नयी कविता में मुक्त छन्द का बढिया प्रचार है।

अभ्यास कीजिए:-

निम्न लिखित छन्दों पर टिप्पणियाँ लिखिए:-

दोहा, चौपाई, रोला, गीतिका, हरिगीतिका, कुण्डलिया छप्पय, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ वसंततिलक, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, सवैया, शार्दूलविक्रीडित, घनाक्षरी।

(10) भरतमुनि;नाट्य शास्त्र:-

भरतमुनि प्राचीन काव्य-शास्त्रा के आदि आचार्य माने जाते हैं। उनके 'नाट्य शास्त्र' से भारतीय काव्य-शास्त्र का आरंभ माना जाता है। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ में पूर्ववर्ता आचार्यों द्वारा प्रणीत श्लोकों की प्रस्तुति कर के उनका स्मरण भी किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके पूर्व भी काव्य-शास्त्रीय चिन्तन विद्यमान रहा होगा। मगर प्रामाणिक रूप से किसी ग्रंथ के उपलब्ध न होने से भरत मुनि ही आदि आचार्य के रूप में समादृत हैं।

'नाट्य-शास्त्र' पंचम वेद माना जाता है। माना ऐसा जाता है कि ब्रह्मा के निर्देशानुसार भरत मुनि ने इसका प्रणयन किया था। नाट्य-शास्त्र ज्ञान का विश्वकोश होते हुए भी मुख्य रूप से नाट्य-विवेचन से संबद्ध है। अन्य विषय नाट्य के अनुषंगिक रूप में आये हैं। 'नाट्य-शास्त्र' दृश्य-काव्य विवेचन केलिए प्रणीत रचना है। फिर भी श्रव्य काव्य की चर्चा भी उसी की उपलब्धि है। दृश्य काव्य में रस का चिन्तन प्रधान था और श्रव्य काव्य में अलंकार का। नाट्य-शास्त्र का विषय अत्यन्त व्यापक है। मुख्य रूप से यह नाट्य-विधानों का अमरकोष है। लेकिन नाट्य के साथ इसमें छन्द-शास्त्र, अलंकार शास्त्र, और संगीत-शास्त्र आदि संबद्ध विषयों का भी विवेचन है। भरत मुनि के अनुसार न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न कोई योग है और न कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता है। इसमें सब शास्त्र, समस्त शिल्प और अनेक प्रकार के कार्य संयोजित होते हैं। भरत मुनि के काल में संपूर्ण काव्य का विचार नाट्य के रूप में था; इसलिए श्रव्य काव्य का विवेचन दृश्य काव्य के अनुषंग के रूप में हुआ है। भरत मुनि को ही संस्कृत नाट्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य होने का गौरव प्राप्त है।

(11) मुक्तक काव्य.....गीति काव्य

मुक्तक काव्य तारतम्य के बन्धन से मुक्त है- "मुक्तेन मुक्तकम्" । मुक्तक का प्रत्येक पद स्वत:पूर्ण होता है। मुक्तक काव्य का विभाजन पाठ्य और गेय रुपों में किया गया है। इन दोनों का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म होता है। पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा के रूप में कहता है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है। पाठ्य मुक्तक प्राय: सूक्तियों के रूप में आत हैं। ऐसे मुक्तक प्राय: नीति विषयक, श्रृंगार विषयक और वीरता विषयक होते हैं। तुलसी की दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदि के दोहे भक्ति और नीति के पाठ्य मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं। गीति काव्य गेय मुक्तक हैं जिन्हें प्रगीत काव्य या गीत काव्य भी कहते हैं। अंग्रेज़ी में गीति काव्य को लिरिक (Lyric) कहते हैं। गोय पदों मे भावातिरेक औरनिजीपन अधिक रहता है। संगीत तो प्रगीत काव्य के नाम से ही लगा हुआ है। संगीत यदि उसका शरीर है तो निजी भावातिरेक और आत्म-निवेदन उसकी आत्मा है। यह भावातिरेक सुख-दु:ख दोनों का ही हो सकता है। सुख-दु:ख की गीतमय अभिव्यक्ति जीवन को एक प्रकार का संतुलन प्रदान करती है। गीति काव्य में कवि जो कुछ कहता है अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमे रागात्मकता भी रहती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाये रखने केलिए उसका छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता भी होती है।

संक्षेप में गीत काव्य के तत्व इस प्रकार हैं-संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकान्त पदावली, निजी रागात्मकता, संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित होता है। इसी कारण इसमें कृत्रिमता का अभाव रहता है। प्रगीत काव्य के कई रूप हो सकते हैं। महीयसी महादेवी वर्मा के अनुसार "साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभव का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वनयात्मकता में गेय हो सके"। लोक-गीत विशिष्ट पर्वोत्सवों और संसकारों के हर्ष और उल्लास के पुनीत अवसर पर गाये जाते हैं। इनके निर्माता प्रायःअपना नाम अव्यक्त रखते हैं। वे लोक-भावना में अपना भाव मिला देते हैं। साहित्यिक गीत शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं; आध्यात्मिक रहस्यवाद के एवं सगुण भक्ति परक भी होते हैं। अंग्रेज़ी गीति काव्य में प्रायःनिम्न लिखित प्रकार प्रचलित है-(1). sonnet (चतुर्दशपदी), (2)ode (संबोधनगीत), (3). Elegy (शोक-गीत), (4) satire (व्यंग्य-गीत), (5) Reflective (विचारात्मक), (6). Diadactive (उपदेशात्मक)।

(12). दशरूपकः-

नाटक को शास्त्रीय परिभाषा में रूपक कहते हैं। रूप के आरोप के कारण उसे 'रूपक' नाम दिया गया है। नट पर दुष्यन्त या राम का आरोप करने से रूपक बनता है। दृश्य काव्य में अभिनय की प्रधानता रहती है। अभिनय को ही नाटक कहते है। संस्कृत में रूपक के दस भेद किये गये हैं-

(1) नाटकः-इसमें रूपक के सभी गुणों का समावेश रहता है। यह शब्द दृश्य काव्य मात्र का वाचक हो गया है।

(2) प्रकरणः- इसके सामान्य गुण तो नाटक के समान ही होते है। अन्तर केवल नायक और कथा-वस्तु में होता है।

(3) भाणः-इस में केवल एक अंक और एक पात्र है। पात्र अपने कृत्यों का वर्णन मुँह ऊपर करके 'आकाशभाषित' के ढंग से स्वयं करता है।

(4) प्रहसनः- इसे हास्य प्रधान एकांकी कह सकते हैं। इसकी संवाद-योजना परिहासपूर्ण होती है।

(5) व्यायोगः-यह भी एकांकी नाटक है। इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध और वीर रस प्रधान होती है। इसमें स्त्री-पात्र बहुत कम होते हैं।

(6) समवकारः- इसके प्रमुख पात्रों की संख्या बारह होती है। इसमें मुख्यतःदेव-दानव-संघर्ष वर्णित होता है। इसमें तीन अंक होते हैं और वीर रस प्रमुख है।

(7) डिम्:-इसमें प्रमुख पात्रों की संख्या सोलह तक होती है। भूत-प्रेतादि पात्र इसमें रहते हैं। रौद्र रस की प्रधानता यहाँ होती है।

(8) बीथीः-यह कल्पित कथा-प्रधान एकांकी होता है। श्रृंगार रस प्रधान होता है। उसमें पात्र एक-दो से अधिक नहीं होता।

(9) अंकः-इसकी कथा प्रख्यात है। फिर भी कल्पना का मिश्रण भी है। करुण रस की इसमें प्रधानता होती है।

(10) ईहामृगः-इसमें चार अंक होते हैं। यहाँ नायक और प्रतिनायक किसी दिव्य कुमारी की कामना करते हैं और संघर्ष करते हैं। परन्तु वह दोनों केलिए अप्राप्य रह जाती है।

उपरूपक अठारह प्रकार के बताये गये हैं। संस्कृत साहित्य में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं। धनंज्य कृत 'दशारूपक' में नाट्य को भावों की अनुकृति कहा है- "भावानुकृतिर्नाट्यम्"।

(13) संकलनत्रय (Three Unitics), ऐक्य त्रयी

नाटक -रचना में एक विशेष बात का ध्यान रखना होता है जिसे 'संकलनत्रय' कहते हैं। यूनान में यह नियम था कि चौबीस घंटों में जो घटनाएँ घटी हों, नाटक में उनका ही अभिनय किया जाये। आज कल की तरह वहाँ नाटक दो-तीन घंटों में समाप्त न होकर दिन भर चलते रहते थे। वहाँ का रंगमंच उनके अनुकूल था। संकलनत्रय के अंतर्गत काल, स्थल और कार्य को महत्व दिया जाता है।

(1) काल-संकलनः-

यूनान में काल-संकलन की पाबंदी का पालन किया जाता था। पर वर्तमान के व्यस्त जीवन में यह बात नहीं हो सकती । रंगमंच पर दर्शोकों को काल के संबन्ध में अस्वाभाविकता का आभास न हो जाये। 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' नाटक के तीसरे अंक में दुष्यंत और शकुन्तला का गाँधर्व विधि से ब्याह होता है और सातवें अंक में दुष्यंत पुत्र सहित शकुन्तला से स्वर्ग में मिलता है। काव्य का यह व्यवधान कहीं खटकता नहीं। यही कुशालता है। हमारे यहाँ काल-संकलन की इतनी कठोरता नहीं है। काल-संकलन को कालैक्य या समयैक्य भी कहते हैं।

(2) स्थल संकलन या स्थलैक्य या स्थानैक्यः-

यूनान में यह भी नियम था कि एक ही स्थल की घटनायें एक नाटक में दिखायी जायें। वहाँ आज कल की तरह नाटकों में विविध दृश्यों की पृष्ठभूमि में स्थान-स्थान की घटनायें नहीं दिखाई जाती थीं। वे चाहते थे कि जो घटनायें नाटक में दिखाई जायें उनका संबन्ध एक ही स्थान से हो, पर आजकल के जीवन में यह संभव नहीं। हमारे यहाँ पहले भी इस स्थलैक्य का बन्धन स्वीकार नहीं किया गया।

(3) कार्य-संकलनः-या कार्यैक्यः-

यूनानवाले नाटकों में घटना की एकता पर भी बल देते थे। उनके नाटकों में प्रसंगवश आनेवाली घटनाओं को श्थान नहीं दिया जाता था। पर हमारे यहाँ तो प्रासंगिक कथाओं का समावेश करके मुख्य कथा का उपकार किया जाता है। इससे कथा-वस्तु की एकरसता में बाधा नहीं पहूँचती। मूल कथा को आगे ले जानेवाली प्रासंगिक कथाओं के बीच-बीच में आते रहने से नाटक में रोचकता बढ जाती है। कुशल नाटककार एक-एक घटना को चुन-चुन कर रखते हैं और इस तरह से मूल कथानक को आगे बढाते हैं।

ये तीनों बातें यूनानी रंगमंच की आवश्यकताओं के परिणाम स्वरूप थीं। वहाँ के नाटकों में दृश्य नहीं बदले जाते थे। सामूहिक गान (chorus) के द्वारा दो दृश्यों में अन्तर डाल दिया जाता था। वही पर्दे का काम करता था। इस प्रकार संकलनत्रय पर वर्तमान युग के नाटककार पूरा ध्यान रखते दीखते हैं; फिर भी यूनानी नियमों की लीक पर से हट कर वे आगे बढते हैं। अरस्तू ने त्रासदी के सन्दर्भ में संकलन त्रय का विशेष उल्लेख किया है।

(14) काव्य-दोष

जिस कारण से कविता के मुख्य अर्थ को समझने में बाधा पहूँचती है अथवा उसकी सुन्दरता में कुछ कमी आ जाती है उसे 'दोष' कहते हैं। काव्य-निर्माण में कवि की अपनी अक्षमता ही दोषों की जननी होती है। कवि अपनी अनुभूति पाठकों को भी अनुभव कराना चाहता है। इसकेलिए वह भाषा का माध्यम अपनाता है। ऐसा करते समय उसे शब्दों और वाक्यों का समुचित और सुसंगत प्रयोग करना पडता है। किन्तु इस प्रयोग में शब्द या वाक्यों में कोई कमी रह जाती है तो पाठकों या श्रोताओं को उस अनुभूति का उसी रूप में अनुभव करने मे बधा पहूँचती है। यही बाधा वास्तव में दोष है। आचार्यों ने काव्य का निर्दोष होना बहुत ही आवश्यक माना है; क्यों कि दोष इसके कलेवर को कलुषित कर देता है। काव्य में दोषों के निराकरण के संबन्ध में सभी आचार्य एकमत हैं। कवि को यथासंभव दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। 'औचित्य' ही दोष की प्रधान कसौटी है। औचित्य की अपेक्षा में ही गुण-दोष की विवेचना की जा सकती है।

काव्य-दोष तीन प्रकार के माने जाते हैं-शब्द - दोष, अर्थ - दोष और रस -दोष। मम्मट ने 70 प्रकार के दोषों का उल्लेख किया है जिनमें 37 शब्द के, 23 अर्थ के तथा शोष 10 रस से संबन्धित दोष है। वाच्यार्थ के बोध होने में जो पृथक-पृथक दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द-दोष कहलाते हैं। इसके तीन प्रकार माने जाते हैं-पदगत, पदांशगत, वाक्यगत। काव्य में व्याकरण विरुद्ध प्रयोग इसके अंतर्गत आते हैं। जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को दुहराया जाता है वहाँ अर्थ दोष होता है। यह पुनरुक्ति से होता है। रस, स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव जहाँ व्यंग्य हो वहीं काव्य के लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव होता है। जहाँ इनका उल्लेख कर रस, भाव आदि को उत्भुत करने की चेष्टा की जाती है वहाँ रस-दोष हो जाता है। विद्वानों ने दोष का एक चौथा प्रकार भी माना है, जिसे वर्णन-दोष कहते हैं। यह भी कई प्रकार का होता है। शब्दों के यथेच्छ अर्थ करने में कवि स्वतंत्रता और स्वच्छंदता का परिचय देते हैं। काव्य को किसी भी प्रकार के दोष से मुक्त करने की चेष्टा की जाय तो उसकी सफलता हो सकती है।

(15) कला के विभिन्न प्रयोजन

'कला कला केलिए' अथवा 'कला जीवन केलिए' का विवाद साहित्य में नैतिकता के प्रश्न को लेकर बहुत पहले उठ खडा हुआ था। यूरोप में साहित्य को ललित कलाओं में माना गया है, इसलिए वहाँ कला के विवेचन में साहित्य के प्रयोजनों का विवेचन किया गया है। वहाँ कला के अनेक प्रयेजन माने गये हैं, जिनमें निम्न लिखित प्रसिद्ध है:-

1. कला कला केलिए।
2. कला जीवन केलिए।
3. कला जीवन से पलायन के अर्थ।
4. कला जीवन में प्रवेश केलिए।
5. कला सेवा केलिए।
6. कला आत्मानुभूति केलिए।
7. कला आनंद केलिए।
8. कला मनोरंजन केलिए।
9. कला सृजन की आवश्यकता -पूर्ति केलिए।

भारत में 'कला कला केलिए' का नारा यूरोप से आया है। अरस्तू 'कला जीवन केलिए' तथा प्लेटों 'कला कला केलिए' वाले सिद्धान्तों के आदि प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। ललित कलाओं में काव्य-कला श्रेष्ठ है। विद्वानों ने काव्य और चित्र-कला को एक ही वस्तु के दो रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। चित्र रेखाबद्ध कविता है और कविता शब्दबद्ध चित्र भी। कलाकार की कृति में लोक-हित की भावना अनायास ही आ जाती है। इसलिए कला न तो एकदम जीवन से पृथक ही हो जाये और न ही उपदेश या प्रचार का साधन ही बने। अतः वास्तव में कला जीवन की सुंदर अभिव्यक्ति है।

PART B- Ancient Indian Literary Thoughts

(40 marks)

ESSAY TYPE QUESTONS

1. समीक्षा या समालोचनाः स्वरूप और परिभाषा।

अथवा आलोचना।

समीक्षक के गुण और धर्म।

किसी वस्तु या कृति की सम्यक् वयाख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना आलोचना है। आलोचक किसी कवि या लेखक की कृति को देखता या परखता है। आलोचना कवि या लेखक और पाठक के बीच की श्रृंखला है। अतः सम्यक् ईक्षा समीक्षा है। अंग्रेज़ी शब्द 'critic' का अर्थ है। अलग करना-To separate. पाश्चात्य देश में भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातों को जानना और समाज को उसका ज्ञान कराना आलोचना का उद्देश्य माना गया है। आलोचनायें भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती हैं; किन्तू मूलतः उनका उद्देश्य एक ही रहता है। साहित्य में हम उस मनुष्य का परिचय पाते हैं जो अपनी सीमा लांध जाता है। आलोचना का उद्देश्य यही खोज निकालना कि कवि या लेखक की कल्पना में मनुष्य के हृदय के किस विशेष रूप ने घनीभूत हो कर अपने अनंत वैचित्य के प्रकाश को सौंदर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। आलोचना का उद्देश्य यह है कि कवि या लेखक की कृति में मानव हृदय कितना और किस सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है-इस तथ्य का उद्घाटन करना।

भारतवर्ष में आचार्य राजशेखर ने एक प्रकार से अपनी 'काव्य-मीमांस' में समीक्षा का वास्तविक सूत्रपात किया। औचित्यवादियों ने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोप में, यूनान में इसका आरंभ हुआ। आधुनिक समय में कला के विविध रूपों की प्रचुर मात्रा में रचना हो रही है। इसलिए आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों में अनेक रूपता के बीच एकरूपता स्थापित करना और वह भी सौन्दर्य के माध्यम से - आलोचना का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने जीवन को अधिक गहराई तक देखा वह उतनी अधिक मात्र में आलोचक बनने की क्षमता रखता है। आलोचना कला को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। वस्तुतः सच्ची आलोचना कला का ही एक प्रधान अंग है। उसका चरम लक्ष्य वही है जो जीवन का अंतिम लक्ष्य है। मिडिल्टेन मोरइल के शब्दों में "कला जीवन की सजगता है तो आलोचना कला की सजगता है"।

आलोचना की निश्चित परिभाषा देना कठिन है। प्रत्येक युग में युग - मन के अनुरूप उसकी परिभाषा बदलती रहती है। इसका प्रयोग गुण - दोष - विवेचन से ले कर सौन्दर्य विज्ञान तक के अर्थ में हुआ है। यूरोप में क्रोचे की भाँति जे.ई स्पिनगार्नने आलोचक का कर्तव्य इस बात का पता लगाने में माना कि लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है और वह उसे अभिव्यक्त

करने में कहाँ तक सफल हुआ है? एक और प्रश्न भी इसके साथ उत्पन्न होता है - लेखक ने जो कुछ अभिव्यक्त किया है वह क्या अभिव्यक्ति करने योग्य था? वास्तव में कवि या लेखक का ध्येय उसकी रचना में ही खोजना चाहिए। "आलोचक की दृष्टि वहाँ तक पहुँचनी चाहिए जहाँ तक कवि की दृष्टि पहुँची है। उसे उन बातों को सुनना चाहिए जो कवि के कानों में गूंजा करती है"। - कैलेट का यह मत भी उल्लेखनीय है। आलोचना स्वयं एक सुन्दर साहित्यिक रूप ग्रहण करती है। वह भी साहित्य के समान आनंद प्रदान करती है। मैथ्यू आरनल्ड जैसे आलोचकों ने आलोचक को युग से बडा मान लिया है। सहृदयता, प्रतिभा, अंतर्दृष्टि, निष्पक्षता, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, शैक्षणिक व्यक्तित्व, सहानुभूति, प्रेषणीयता, युग - निर्माण की शक्ति, औचित्य - ज्ञान, सच्चाई और ईमानदारी आदि आलोचक के अनिवार्य गुण होते हैं।

आलोचना के ध्येय के संबन्ध में समय - समय पर भिन्न - भिन्न विचार - धारायें रही हैं। प्राचीन भारत में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि पर आधारित विचार - धाराएँ थीं। पश्चिम में नैतिकता, सौन्दर्य विज्ञान, सुषमावाद या रीतिवाद से संबद्ध धारणायें थीं। किन्तु आधुनिक युग के कई प्रसिद्ध आलोचकों ने आलोचना का सर्वोत्तम ध्येय सर्वोच्च साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं का पालन करना माना है। आलोचना प्रधान रूप से व्याख्यात्मक और विर्णायात्मक ही हो सकती है, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोनों में अधिक अंतर नहीं है। आधुनिक युग में आलोचकों की संख्या अनुदिन बढ रही है-यह शुभ लक्षण है। पर आलोचक में सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण, साहस, अंतर्दृष्टि, अतीत समस्याओं का ज्ञान, विदेशी साहित्यों और अपने चारों तरफ की दुनिया से परिचय, सहानुभूति की शक्ति, अध्ययन एवं मनन-शीलता, कलाकार की कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना आदि अनेक गुणों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। कलाकार की भाँति आलोचक का भी अपना व्यक्तित्व है। ओस्कार वाइल्ड का कथन है कि आलोचक दूसरों की कृति और व्यक्तत्व की तभी व्याख्या कर सकते हैं जब वह स्वयं अपने व्यक्तित्व में प्रभावात्मकता पैदा करे और तभी वह सर्वसाधारण केलिए रसज्ञ हो सकता है। किसी भी रचना की आलोचना करते समय आलोचक को साधारण बुद्धि वाले मनुष्य को दृष्टि में रखना चाहिए।

संक्षेप में आलोचना सृजन-धर्मिता का ऐसा अंग है जो सृजन भी है और सृजन की आलोचना की एक प्रक्रियी को विस्तार भी देती है। कोई आलोचक जब किसी कृति को पढता है तो उसके भीतर भी एक सृजन होता है। आलोचना कला या साहित्य का विज्ञान है।

Q. 2. आलोचना या समीक्षा के भेद या प्रकारों पर दृष्टिपात कीजिए:-

आलोचना के वर्गीकरण की समस्या दृष्टिकोण पर निर्भर है। फलतः आलोचना के मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, विर्णयात्मक, सामाजिक आदि कई भेद हो सकते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आलोचना के छःभेद विर्धारित किये जा सकते हैं।

(1) निर्णयात्मक आलोचनाः-

यूरोप में यह प्रणाली बहुत पुरानी है और यह एक प्रकार की नैतिक आलोचना कही जा सकती है। इसमें उन मूल्यों की खोज की जाती है जिनके प्रभावान्तर्गत कवि या कलाकार की सृजनात्मक शक्ति का उद्घाटन किया जाता है। साथ ही रूप और रचना-प्रक्रिया का मूल्यांकन भी होता है। इस प्रणाली का मुख्य ध्येय लेखकों या कृतियों की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के संबन्ध में निर्णय देना है। इस केलिए नियमों की सहायता ली जाती है। ये नियम वाह्य रूप से आरोपित रहते हैं। निर्णय देते समय निर्णयात्मक आलोचक को जहाँ एक ओर शास्त्रीय समीक्षा के नियमें का

पालन करना पडता है तो दूसरी ओर उस युग की प्रवृत्तियों को भी दृष्टि में रखना पडता है जिसमें उसकी रचना की जाती है। इसलिए आलोचना के अपरिवर्तन शील मापदण्ड स्थापित होते हैं। इसमें रचना की अपेक्षा वातावरण, इतिहास, मनोविज्ञान आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह शास्त्रीय आलोचना का व्यावहारिक रूप है। हिन्दी में आचार्य महीवीर प्रसाद द्विवेदी कृत और मिश्रबन्धु कृत आलोचनायें निर्णयात्मक ढंग की हैं। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक न्यायाधीश के समान होते हैं और व्याख्यात्मक आलोचना में अन्वेषक के रूप में।

2. व्याख्यात्मक आलोचनाः-

आलोचना के क्षेत्र में बहुत दिनों रूढिवादिता का प्रामुख्य रहा । नियमों का कठोरता से पालन होता रहा। इसकी प्रतिक्रिया व्याख्यात्मक आलोचना में पायी जाती है। इसमें नियमों के बन्धन से मुक्त सहज रूप से कृतियों की व्याख्या का प्रयास होता है। इस पद्धति का प्रसार जर्मनी के विचारकों के कारण हुआ। इंग्लैंड में कार्लाइल, आर्नल्ड, पीटर न्यूमार्क आदि ने इसका समर्थन किया। व्याख्यात्मक आलोचना का प्रधान उद्देश्य कृति को उसके वास्तविक रूप में देख कर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना है। आलोचक को कृति में पूर्ण रूप से लीन हो कर उसके अनुभव का पूर्ण उद्घाटन करना पडता है। हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर इतिहास, समाज, धर्म, सामान्य जीवन आदि को दृष्टि में रखते हुए आलोचनायें लिखीं। इस पद्धति का हिन्दी में पर्याप्त प्रसार हुआ। यद्यपि नवीन समालोचना-प्रणाली शुक्लजी के निर्धारित मार्ग से बहुत कुछ भिन्न हो गयी है, तथापि उनकी पद्धति का अब भी महत्व अवश्य है।

3. मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षाः-

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से संबद्ध होने के कारण यह प्रणाली मार्क्सवादी या भौतिकवादी आलोचना नाम से अभिहित होती है। भोतिकवादी आलोचना जीवन के बहुमुखी पक्षों के साथ संबन्ध स्थापित कर साहित्य का मूल्यांकन करती है। जीवन निरंतर गतिशील रहा करता है। किन्तु प्राचीनता के प्रति मोह और नवीनता के प्रति आकर्षण के फल स्वरूप जीवन में, फलतः साहित्य में द्वंद्व उपस्थित होता है। मार्क्स के मतानुसार मानव के इतिहास का विकास उत्पादन और वितरण के साधनों और वर्ग-संघर्ष के दो कूलों के बीच प्रवाहित होता है। शंघर्ष के अनुकूल सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और फलतः साहित्यिक आदर्श निर्णीत होते रहते हैं। हमारा जीवन अनेक विषमताओं से पीडित है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार प्राचीनता के मोह से ग्रास्त नहीं हो सकता। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर भौतिकवादी आलोचक साहित्य का मूल्य समझने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से इस आलोचना प्रणाली की सीमाएँ संकुचित हैं। हिन्दी में भौतिकवादी या मार्क्सवादी आलोचना के प्रशस्त उन्नायक हैं-मुक्तिबोध, राम-विलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, नामवरसिंह आदि।

(4) मनोवैज्ञानिक आलोचनाः-

यह आलोचना -पद्धति बीसवीं सदी की देन है। कुछ रचनाओं का तो आधार ही मनोवौज्ञानिक होता है। उनमें कवि या कलाकार अपने पात्रों के मन को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। ऐसी कृतियों की आलोचना मनोवैज्ञानिक ही होगी। जब कला कलाकार की मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिंब है तो आलोचक कलाकार पहले कला का मूल स्रोत ही खोजता है। इस कार्य में मनोविश्लेषण शास्त्र से सहायता ली जाती है। यूरोप में उन्नीसवीं सदी के पहले इस प्रकार की

आलोचना बहुत कम मिलती है। 18 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में एडिसन ने इसको जन्म दिया। 20 वीं सदी में इसका पर्याप्त प्रसार हो गया। फ्रायड, एडलर और जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त से आधुनिक साहित्य समीक्षा बहुत अधिक प्रभावित है। हिन्दी में भी इसका प्रभाव कम नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी प्रकारान्तर से इससे प्रभावित थे। इनके बाद डा. नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि ने आलोचना में इसका व्यवहार किया।

5. ऐतिहासिक आलोचनाः-

किसी कृति की व्याख्या करते समय रचयिता के पूर्व की कथा, समकालीन इतिहास का आश्रय आदि जिसमें ग्रहण किये जाते हैं उसे ऐतिहासिक आलोचना कहते हैं। आधुनिक युग में इस पद्धति को बहुत प्रसिद्धि मिली है। इसमें साहित्य को समाज का प्रतिबिंब माना जाता है। होमर, लोंगिनस, बेकन, मिल्टनस कालाइल, आर्नल्ड, टी.एस.इलियट आदि पाश्चात्य विचारकों ने साहित्य को सामाजिक, ऐतिहासिक शक्तियों से संबद्ध करने का प्रयास किया है। प्रत्येक काल की जीवन संबन्धी व्यापक परिस्थितियाँ अपने पूर्ववर्ती काल से संबद्ध होते हुए भी भिन्न होती हैं और वे लेखक की विचार-धारा को प्रभावित किये बिना नहीं रहती । इसलिए नये काल के साथ आलोचना भी नवीन रूप धारण करती है। इस आलोचना-पद्धति से युग-जीवन समझने में अवश्य सहायता प्राप्त होती है। किन्तु इस पद्धति का एक दोष यह है कि हमारा ध्यान कभी-कभी कलाकार की रचनाओं से हट जाता है। हिन्दी में एतिहासिक आलोचना पद्धति का पर्याप्त प्रसार पाया जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, आचार्य शुक्लजी सभी इससे कुछ प्रभावित हैं। आधुनिक युग में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि आलोचकों ने आलोचना में ऐतिहासिक दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है।

6. प्रभावात्मक (आत्मप्रधान) आलोचनाः-

यह आलोचना पद्धति स्वच्छंद व्यक्तिवाद और आत्म-चेतना पर आधारित है। तार्किक दृष्टि से या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी एक कृति के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही इस आलोचना का प्रथम सोपान है। किसी कृति को पढ कर जिन भावों और प्रभावों की अनुभुति होती है उन्हें उसी तरह से प्रकट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का काम होता है। यदि एक आलोचक में सत् असत् का विवेक और साथ ही उसमें हर्षोल्लास की भावना है तो वह शीघ्र ही कलात्मक कृति को हृदयंगम करने की चेष्टा करता है। इसमें आलोचक के हृदय पर जो प्रभाव पडा है उस पर बल दिया जाता है।

इस पद्धति का सामूह्य रूप नाट्य शास्त्र में बतायी गयी सिद्धियों में मिलता है जिनका प्रमाण दर्शकों के हर्षोल्लास सूचक व्यापार में है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना के दर्शन पंडित पद्मसिंह शर्मा की कृतियों में होते हैं। प्रभावात्मक आलोचक बनने की क्षमता सबमें नहीं होती । उसकेलिए तीव्र संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है।

पाश्चात्य समीक्षा के अर्न्तगत आलोचना के निम्न लिखित प्रकार प्रचलित हैं- Moral (नैतिक), psychological (मनोवैज्ञानिक), sociological (समाजवादी), Formalistic (रूपात्मक) और Archetypal (आद्यबिंबात्मक) आदि। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा भी इन विभिन्न प्रकारों से संपन्न तो अवश्य हुई है।

(3) भारतीय साहित्य की पुरानी आलोचना पद्धतियाँः-

प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रचलित समीक्षा-पद्धतियाँ इस प्रकार हैंः-टीका-पद्धति, भाष्य-पद्धति, शास्त्रार्थ पद्धति, आचार्य-पद्धति, निर्णय-पद्धति,खंडन-मंडन पद्धति, समीक्षा-पद्धति आदि।

(1) टीका-पद्धतिः-

प्राचीन काल में अधिकांश ग्रंथ पद्य में लिखे जाते थे। किन्तु उनपर टीकाएँ प्रायः गद्य शैली में ही लिखी जाती थीं। टीका-पद्धति की कुछ विशेषतायें निम्न लिखित हैं-प्रत्येक शब्द के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, व्याकरणिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण, अर्तकथाओं आदि का स्पष्टीकरण। यह टीका-पद्धति आजकल की व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक अविकसित रूप है।

(2) भाष्य-पद्धतिः-

प्राचीन काल में टीका के समान भाष्य लिखने का भी प्रचलन था। सैकडों भाष्य-ग्रंथ लिखे गये थे। भाष्य अधिकतर दार्शनिक रचनाओं के लिखे जाते थे। इस पद्धति को भी व्याख्यत्मक आलोचना का ही एक प्राचीन प्रकार माना जा सकता है।

(3) शास्त्रार्थ पद्धतिः-

इस पद्धति की रचनाएँ तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अधिक मिलती हैं। यह सैद्धान्तिक आलोचना का एक प्रकार है।

(4) निर्णय पद्धतिः-

प्राचीन भारत की आलोचना सूत्र रूप में थी और किसी सूक्ति के रूप में किसी भी साहित्यकार की संपूर्ण आलोचना प्रस्तुत की जाती थी। उदाः- "उपमा कालिदासस्य" , "सूर सूर तुलसी ससी" आदि उक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

(5) खडंन-मंडन-पद्धतिः-

इस पद्धति के आलोचक पहले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करते रहे और बाद में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते रहे। प्राचीन भारत में इस शैली का बहुत प्रचलन था।

(6) समीक्षा-पद्धतिः-

समीक्षा का अर्थ है अंतर्भाष्य या अवान्तरार्थ-विच्छेद। प्राचीन भारत में कवि के अंतर्जगत की खोज करने की भी चेष्टा की गयी थी और आलोचना के वास्तविक रूप के विकास का प्रयास भी हुआ था।

(7) आचार्य पद्धतिः-

तरह-तरह के शास्त्रीय ग्रंथों का आचार्यों द्वारा अनुशीलन और उनके विश्लेषण की परिपाटी इस पद्धति के अंतर्गत है। संस्कृत साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में यह पद्धति भी प्रचलित थी।

उपरोक्त सारी पद्धतियों से यह निषकर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भारत में भी आलोचना की प्रक्रिया सक्रिय थी।

(4) भारतीय समीक्षा या आलोचना के विभिन्न सिद्धान्त या संप्रदायः-

भारतीय समीक्षा की भरत से जगन्नाथ तक की परंपरा श्री संपन्न है। भारतीय साहित्य शास्त्र या समीक्षा को 'अलंकार शास्त्र' का अभिधान प्राप्त था। अलंकार शास्त्र संस्कृत साहित्य की अनुपम निधि है। भारतीय आलोचना के सिद्धान्तों को मुख्यतः छः संप्रदायों में बाँटा गया है- औचित्य संप्रदाय, गुण-रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और रस संप्रदाय। गुण और रीति को अलग करने पर सात संप्रदायों की गणना भी की जा सकती है। समस्त आलोचना-शास्त्र अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित है। औचित्य, रस और ध्वनि के सिद्धान्त विश्व साहित्य केलिए हमारी महती देन है।

1. औचित्य संप्रदायः-

"उचितस्य भावः औचिच्यं" अलंकार शास्त्र में औचित्य संप्रदाय को सर्वाधिक महत्व देनेवाले आचार्य हैं क्षेमेन्द्र। ये कश्मीरी पण्डित थे। औचित्य का अर्थ है 'उचित का भाव'। जो वस्तु जिसके अनुकूल हो उसे उचित कहते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-उचितं प्राहुराचार्याः सदृशंकिल यस्ययत्।

उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते। औचित्य का संबन्ध पद, वाक्य, गुण, अलंकार, रस, क्रिया,कारक, लिंग, उपसर्ग आदि अनेक वस्तुओं से है। कवि अपने अनेक वर्णनों द्वारा श्रोता के चित्त में रस का उन्मीलन करता है। पर यह रसोन्मीलन तभी संभव होता है जब काव्य या नाटक रसमय होने के अतिरिक्त औचित्यपूर्ण ही हो। अलंकार काव्य को सजाते हैं; गुण उसे सगुण बनाते हैं; पर वे भी औचित्य युक्त होने पर ही अपना कार्य कर सकते हैं। उचित स्थान पर रखने में ही अलंकार की अलंकारवत्ता और गुण की गुणवत्ता निहित है। अतएव आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैंः-

"औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितं"। अर्थात् रस सिद्ध काव्य की आत्मा औचित्य है।

औचित्य के भेदः-

औचित्य के भेद बहुत हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथ 'औचित्य विचार चर्चा में' इसके सत्ताईस प्रकारों का प्रतिपादन किया है-पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाट्य और आशीर्वाद।

(1) पदौचित्य (नामौचित्य):-

कोशों में एक ही व्यक्ति या वस्तु के अनेक नाम मिलते हैं। उदा.कामदेव केलिए 'मदन' , 'कंदर्प', मनसिज, अनंग जैसे अनेक नाम मिलते हैं। 'मदन' का अर्थ है मद उत्पन्न करने वाला। दर्प के दमन करने के कारण उसे कंदर्प कहते हैं। श्रेष्ठ कवि ऐसे शब्दों के चयन में हमेशा प्रकृत का खूब स्मरण करता है। उसके अनुरूप शब्द का चयन करना कवि की कुशलता का द्योतक है। बिहारी का निम्न लिखित दोहा उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है-

करौं कुबात जब कुटिलता तजो न दीन दयाल।

दुखी हो हुए सरल चित्त बसत त्रिभंगीलाल। इसमें 'त्रिभंगीलाल' नाम को कृष्ण केलिए चुनने के कारण नामौचित्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत होता है।

(2) अलंकरौचित्यः-

अलंकार का औचिच्य वहाँ होता है जहाँ वह संदर्भ तथा रस के सर्वथा अनुरूप हो। रसानुभूति में सहायक न होनेपर अलंकार कविता केलिए बोझ रहता है। बिहारी ने ठीक ही कहा है- "वा सोने को जारिए जासे टूटें कान"। इसी कारण रसहीन अलंकृत काव्य को आलोचक गण निम्नतम कोटि (चित्र काव्य) में रखते हैं।

(3) रसौचित्यः-

रस काव्य की आत्मा है-इसमें कोई संदेह नहीं। पर काव्य में रस-परिपाक तभी संभव होता है जब उसका भी प्रकरणानुकूल उचित शब्दों में विनिवेश हो जाए। अतःशब्दावली रसानुरूप होनी चाहिए।

(4) वृत्तौचित्यः-

कविता में उपयुक्त छन्द का प्रयोग वृत्तौचित्य कहा जा सकता है। महान कवि विषय के अनुरूप ही छन्दों का चयन करता है। मालिनी छन्द सौम्य भाव केलिए और मन्दाक्रान्ता विरहोत्पादक प्रसंगों केलिए उपयुकत है। इसी कारण ऐसे संदर्भों में उक्त छन्दों का प्रयोग वृत्तौचित्य का सूचक है। स्रग्धरा तथा घनाक्षरी छन्द भयानक रोमहर्षक प्रकरणों केलिए उचित है। सवैया छन्द श्रृंगार केलिए स्पृहणीय है। इसी कारण श्रेष्ठ कवियों ने छन्दों के ग्रहण में औचित्य दिखाया है। कालिदास ने इसी कारण 'मेघदूत' में मन्दाक्रान्ता तथा घनानंद ने सवैया छंद का ग्रहण किया।

औचिच्य की महिमा प्रायः सभी संप्रदाय के समर्थकों ने स्वीकार की है। रस-ध्वनिवादी इसे रस का परम तत्व मानते हैं। आचार्य आनंदवर्दधन ने इस पर विशेष ध्यान दिया है।

2. रीति संप्रदाय-गुण संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। इनका सिद्धान्त ग्रंथ 'काव्यलंकार-सूत्र' है। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि काव्य की आत्मा रीति है। पदों की विशिष्ट रचना है रीति। वौशिष्ठ्य पदों में गुणों के कारण आता है।

रीतिरात्मा काव्यस्य

विशिष्टा पद-रचना रीतिः

विशेषो गुणात्मा। गुण आत्मा में उत्कर्ष लाते हैं। वामन गुण और अलंकार दोनों को भिन्न मानते हैं। काव्य की शोभा करनेवाले धर्म गुण हैं। उसमें अतिशयत्व लानेवाले तत्व हैं अलंकार।- "काव्य शोभायाःकर्तारो धर्माः गुणाः तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः"।

आचार्य मम्मट ने वामन के उपर्युक्त मत का प्रबल विरोध किया है। वामन ने तीन रीतियों की परिकल्पना की है-वैदर्भी रीति, गौडी रीति और पांचाली रीति । गुणों की संख्या उनके अनुसार दस हैं- वे हैं - ओज, मार्धुर्य, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, सौकुमार्य, उदारता, अर्थ-व्यक्ति और कांति।

गुण सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। रुद्रदामन के एक शिलालेख में माधुर्य, कांति, उदारता आदि गुणों का उल्लेख दिखता है। नाट्य-शास्त्र मे भी दस गुणों का प्रतिपादन है। कौटिल्य ने राजकीय आदेशों में छःगुण आवश्यक माने हैं। कौटिल्य का समय रुद्रदामन और भरत मुनि से पूर्व था। इसलिए प्रमाणित होता है कि गुण सिद्धान्त भरतमुनि से भी पहले वर्तमान था। दण्डी ने भरत

द्वारा निर्दिष्ट गुणों को स्वीकार किया है। पर व्याख्या में भरत और दंडी में अनेक स्थानों पर अंतर है। दंडी गुणों में शब्दगत और अर्थगत-इस प्रकार के भेद स्वीकार नहीं करते। वे दसों गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण मानते हैं। गौडी रीति में कतिपय गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं।

वामन भी भरत द्वारा निर्दिष्ट गुणों को स्वीकार करते हैं। पर उनकी व्याख्या एकदम मौलिक और नवीन है। उनके अनुसार गुणों के दो विभाग होते हैं-शब्दगत और अर्थगत। शब्दगत गुणों के अर्थगत होते ही महान अंतर पड जाता है। उदाः-शब्दगुण माधुर्य का अर्थ है 'पृथक पदत्वम्'। यह तभी संभव है जब लंबे-लंबे समास न रखे जाएँ। परंन्तु अर्थ गुण माधुर्य का संबन्ध उक्ति की विचित्रता से है-उक्ति वैचित्र्यं माधुर्यम। गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य न हो सका। वामन के पूर्व ही भामह ने दस गुणों के स्थान पर ओज, माधुर्य और प्रसाद नाम से तीन गुणों की कल्पना की थी। मम्मट के समान हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी वामन के मत का निराकरण किया। केवल भोजराज ने उसका समर्थन किया। उन्होंने गुणों के तीन भेद माने हैं- बाह्यगुण, आभ्यंतरण गुण और वैशेषिक गुण। संख्या में उन्होंने अपनी तरफ से कुछ वृद्धि भी की है।

रीति एक प्राचीन मार्ग है जिसमें वैदर्भ मार्ग गौडीय मार्ग की अपेक्षा रमणीय माना जाता था। गौडीय मार्ग निंद्य माना जाता था। भामह ने इस विचार-धारा की निन्दा करके स्थापित किया कि काव्य के शोभादायक गुणों की और ही ध्यान देना चाहिए। पर दण्डी वैदर्भी के समर्थक और गौडी रीति के निरासक थे। वामन की दृष्टि दण्डी की अपेक्षा काव्य की आत्मा की तरफ अधिक आकृष्ट थी। उन्होंने दो रीतियों के स्थान पर एक और रीति भी जोड दी-पांचाली। उनके पीछे आनेवाले आलंकारिकों ने इसमें भी परिवर्तन किया। रुद्रट ने इनके अतिरिक्त लाटीया और भोज ने अवंती, मागधी और लाटी को भी मान लिया है। लेकिन वामन द्वारा उद्भावित तीन रितियों ही काव्य-जगत में स्वीकृत हो सकीं।

अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा रीति-संप्रदाय में काव्य सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। इस संप्रदाय के आलोचकों ने गुण और अलंकार का परस्पर पार्थक्य निर्दिष्ट किया है। रस-विधान की दृष्टि से भी अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा रीति-संप्रदाय की दृष्टि अधिकसूक्ष्म लक्षित होती है। भामह आदि आलंकारिक आचार्य रस को काव्य का बहिरंग साधन मानते हैं। पर वामन उसे काव्य के अंतरंग धर्मों में स्थान देकर उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। इसलिए अलंकार संप्रदाय की अपेक्षा रीति संप्रदाय में काव्य तत्वों का अधिक व्यापक प्रतिपादन प्राप्त होता है।

3. ध्वनि संप्रदायः-

साहित्य शास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्वशाली संप्रदाय ध्वनि संप्रदाय है। इसके आचार्यों ने अब तक जिन काव्य तत्वों का उद्गम तथा विकास शास्त्र जगत में होता आया है उन सबका ध्वनि के साथ सामंजस्य दिखाया है। ध्वनि-संप्रदाय को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है। तब से लेकर आज तक इस सिद्धान्त की महिमा अक्षुण्ण बनी रहती है। प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक, महिम भट्ट जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने इसका प्रबल विरोध किया। पर यह सिद्धान्त समस्त अग्नि-परीक्षाओं में खरा उतरा है और आज साहित्य जगत का सर्वस्व बन कर विराज रहा है।

ध्वनि क्या है?

जहाँ वाच्यार्थ के भीतर से अधिक चमत्कारपूर्ण एक दूसरा ही अर्थ निकले वही ध्वनि है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं-वाच्य और प्रतीयमान। वाच्यार्थ में अलंकार आदि का समावेश है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। किसी सुन्दरी के शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक अंग तथा अवयव से भिन्न लावण्य की पृथक सत्ता है उसी प्रकार काव्य में भी उसके अंगों से पृथक चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्तमान है। आनंदवर्धन ही ध्वनि को काव्य के महनीय तथा स्वतंत्र तत्व के रूप में स्वीकार करनेवाले प्रथम आचार्य हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्यत्व है ही। पर उसकी समीक्षा कर उसे काव्य-तत्व का एक प्रधान सिद्धान्त बता कर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचना-बुद्धि का कार्य न था। यही कार्य आनंदवर्धन की मनीषा द्वारा हो गया। आन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि सिद्धान्त की पहली मार्मिक व्याख्या है। उनके लगभग सौ वर्ष बाद आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्योलोक' की टीका 'लोचन' में इस तत्व को और भी दृढ़ बनाया। इसी समय कतिपय ध्वनि विरोधी आचार्योंने इसका खण्डन करना शुरू किया। उनके सभी आक्षेपों का उत्तर देते हुए आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस सिद्धान्त की पूर्णव्यवस्था कर दी तब से यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से अविच्छिन्न होकर चला आ रहा है। 'ध्वनि' शब्द तथा तत्व दोनों केलिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों के श्रणी हैं। वैय्याकरणों के स्फोटवाद से ही ध्वनिवाद का मूल संबन्ध है। व्याकरण में ध्वनि तो केवल अभिव्यंजक शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त होती है । परंतु साहित्य शास्त्र में इसका प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों केलिए होता है।

ध्वनि-मत को रस-मत का ही विस्तृतीकरण मानना चाहिए। रस का प्रतिपादन नाटक के प्रसंग में पहले पहल होता था। यह रस व्यंजना वृत्ति के द्वारा व्यक्त होता है। रसोन्मीलन केलिए विस्तृत काव्य-रचना की आवश्यकता है। इसलिए रमणीय होने पर भी एक ही काव्य में पूर्णतया रस-परिपाक की गुंजाइश नहीं पायी जाती। ऐसी अवस्था में रस को ही काव्यात्मा स्वीकार करने पर मुक्तक पद्य काव्य-क्षेत्र से बाहर पड जाता है। रस वाच्य न होकर व्यंग्य ही होता है। इसी युक्तिको स्वीकार कर के ध्वन्यालोककार ने "चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ से समन्वित कविता को ही उत्तम काव्य माना है"। रस काव्य और नाट्य दोनों का ही जीवनभूत सत्य है। अतःआनंदवर्धन ने रस-मत को ही विवक्षित कर अपने ध्वनि-मत का निरूपण किया है। ध्वनि सिद्धान्त काव्य के अंतस्तत्व की अभिव्यक्ति करता है। वह कला के मूल तत्व का स्पर्श करता है। तभी कलाओं में बाह्य तत्व की अपेक्षा आंतरिक तत्व अधिक महत्वशाली है। आनंद वर्धन ने मूल तत्व की ही व्याख्या करनी चाही।

ध्वनिवादी ध्वनि को तीन भागों में बाँटते हैं-रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु ध्वनि। रस-ध्वनि के भीतर केवल नव रसों की ही गणना नहीं होती; प्रत्युत् भाव, भावावेश, भावाभास, भाव-शाबलता आदि की भी गणना है। अलंकार-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त पदार्थ इतिवृत्तात्मक न हो कर कल्पना प्रसूत हो। वस्तु-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य - कथन मात्र की अभिव्यंजना की जाए। इनमें रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। वालमीकि के हृदय में क्रौंच-वध के कारण शोक का जो प्रबल भाव जगा वह शलोक रूप में प्रकट हुआ। (शोकःश्लोकत्वमागतः।) यही रस-ध्वनि है। यही काव्य की वस्तुतः आत्मा है। ध्वनिः काव्यस्य आत्मा इति सामान्येन उक्तं।

ध्वनि-संप्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं-ध्वनि-काव्य, गुणीभूत वायंग्य और चित्र काव्य। ध्वनि-काव्य में प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे गुणीभीत व्यंग्य कहते हैं। चित्र काव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण और अलंकार को भी काव्य मे उचित स्थान पर प्रतिष्टित किया है। उनका कथन है-जिस प्रकार मनुष्य के शौर्य तथा वीर्य आदि धर्म उसकी आत्मा के साथ संबद्ध रहते हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के मूलभूत रस के ऊपर आश्रित रहते हैं। अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं। वे शब्द तथा अर्थ पर भी आश्रित रहते हैं। वे काव्य में विद्यमान रस का भी उपकार करते हैं। अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं कही जा सकती ।

ध्वनि विरोधी आचार्यः-

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठित था तथापि कश्मीर के अनेक आलंकारिकों को यह सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ। ध्वनिवादी और ध्वनि-विरोधी आचार्यों में बहुत दिनों तक गहरा संघर्ष चलता रहा । संभवतः मुकुल भट्ट सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी हैं। वे ध्वनि को लक्षणा के अंतर्गत रखते थे। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलंकारों के ही अंतर्गत रखा। उक्त दोनों आचार्यों ने प्रसंगवश ही ध्वनि का खण्डन किया है। पर ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने केलिए ही भट्टनायक, कुन्तक और महिम भट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। भट्टनायक का ग्रंथ है हृदय-दर्पण। इसे ध्वनि-ध्वंस भी कहते हैं। ये यद्यपि रसवादी थे, फिर भी रस-सिद्धि केलिए व्यंजना सिद्धान्त इन्हें मान्य नहीं हुआ। कुन्तक ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं कर के उसे वक्रोक्ति का प्रकार मात्र मानते थे। महिमभट्ट ने अपने व्यक्ति-विवेक में ध्वनि को अनुमान के अंतर्गत स्थापित किया है। इन सब पंडितों के विरोधों के बावजूद ध्वनि सिद्धान्त आज भी साहित्य शास्त्र में अनुपम मान लिया जाता है। आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त इसके सबसे बडे समर्थक तो थे ही। इनके अतिरिक्त मम्मट आदि महान मनीषियों ने भी ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन करके उसे शाश्वतिक बना दिया है।

4. वक्रोक्ति संप्रदायः-वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढा कथन। प्राचीन काल से आचार्यें ने काव्य में किसी अतिश्य कथन की आवश्यकता बतायी है। साधारण कथन प्रकार से भिन्न अति चमत्कृत कथन प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। काव्य-शास्त्र में वक्रोंक्ति की कल्पना भामह से आरंभ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामांतर मानते हैं। वे इसको काव्य का मूलभूत तत्व ही स्वीकार करते हैं। उनका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है -

सैषा सर्वत्र बक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नो एस्या कविना कार्यः को एलंकारौ अनयाविना"। वामन अलंकार केलिए वक्रोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार वक्र अर्थ का कथन शब्दों केलिए अलंकार का काम करना है। अभिनवगुप्त ने भामह की एक उक्ति उद्धृत करके वक्रोक्ति का लक्षण दिया है- "शब्दस्यहि वक्रता अभिधेयस्य चवक्रता।

लोकोत्तीर्णोन रूपेण अवस्थानम्" । लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है। आचार्य दण्डी ने समस्त वाड्मय को दो भागों में

बाँटा है-स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति में वस्तुओं का यथार्थ कथन होता है, वक्रोक्ति में अतिशय कथन। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवत् आदि रस संबद्ध अलंकार दण्डी के विचारानुसार वक्रोक्ति के अंतर्गत आते हैं। दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति कल्पना को स्वीकार किया है। भामह केलिए वक्रोक्ति सब अलंकारों के मूल में वर्तमान है। पर दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से पृथक कर दिया है। स्वभावोक्ति में अतिशय कथन की गुंजाइश नहीं है।

वामन की वक्रोक्ति संबन्धी कल्पना भामह से बिलकुल भिन्न है। उनकेलिए वह अर्थोलंकारों में से एक ही है। रुद्रट के समय में वक्रोक्ति एक शब्दालंकार बन जाती है। कुंतक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मान कर काव्य का मूल तत्व मानते हैं। किसी वस्तु का साधारण, लौकिक प्रकार से भिन्न अलौकिक ढंग से कथन वक्रोक्ति है। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकार के मूल तत्व के रूप में गृहीत थी; वामन में सादृश्यमूलक लक्षणा के रूप में अलंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुंतक के अनुसार काव्य का मूल तत्व स्वीकार की गयी।

कुन्तक ही वक्रोक्ति संप्रदाय के संस्थापक हैं। क्यों कि वे ही वक्रोक्ति को काव्यात्मा मान लेते हैं। कुंतक बडे श्रेष्ठ विद्धान थे। मौलिकता तथा आलोचना बुद्धि में वे आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समकक्ष हैं। वे रस तथा ध्वनि दोनों से परिचित हैं। लेकिन दोनों को वक्रोक्ति का विशिष्ट प्रकार मान लेते हैं। कुतंक ने वक्रोक्ति के छः प्रकार निरूपित किये हैं-वर्ण-वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, पदोत्तरार्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबंध-वक्रता। कुंतक की वक्रोक्ति कल्पना इतनी उदात्त और व्यापक है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपंच सिमट जाता है। पर कुंतक के पीछे इस संप्रदाय के विस्तार का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। पीछे के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति का ग्रहण एक शब्दालंकार के रूप में किया।

कुन्तक का सिद्धान्त है- "वक्रोक्तिः काव्य जीवतम्"। अर्थात् वक्रोक्ति काव्य का जीवन्त तत्व है। आपका उल्लेखनीय ग्रंथ है 'वक्रोक्ति जीवित'। कुन्तक की मान्यता है-कवि के वक्र-व्यापार से सुशोभित तथा काव्य के वेत्ताओं, सहृदयों को आहलादित करनेवाले बन्ध में रखे गये सहित शब्द और अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं। कुंतक शब्द और अर्थ को अलंकार्य मानते थे; अर्थात भूषित करने योग्य शरीर की रचना काठ्य में कवि को करनी चाहिए। काव्य कवि के प्रतिभा - व्यापार का सधः प्रसूत फल है।

वक्रोक्ति भारतीय आलोचना शास्त्र का नितान्त मौलिक सिद्धान्त है। वक्रोक्ति काव्य का प्राण है, सास्तम अंश है। वक्रोक्ति के बिना काव्य में काव्यत्व ही विद्यमान नहीं रहता। कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। वक्रोक्ति को काव्य तत्व के रूप में प्रतिपादित करने का श्रेय आचार्य भामह को और उसे उदात्त रूप प्रदान करने का श्रेय कुन्तक को प्राप्त है। ध्वनिवादी आचार्य वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि के अंतर्गत मानते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार पाश्चात्य समीक्षक क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति का ही प्रकारान्तर है।

5. अलंकार संप्रदाय

समस्त आलोचना-शास्त्र अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित है। अलंकार संप्रदाय अलंकार शास्त्र के विभिन्न अंगों में एक है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं और इसके पोषकहैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज इस मत के अनुयायी हैं। अलंकार संप्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का प्राणभूत तत्व है। मम्मट के काव्य - लक्षणों का खण्डन

करते हुए जयदेव लिखते हैं- "जो विद्वान अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को अनुष्ण क्यों नहीं कहता?" रुत्यक की स्पष्ट उक्ति है कि प्राचीन अलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैः- "तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"।

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में चार अलंकारों का प्रतिपादन मिलता है-अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। इन चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित हो कर अलंकारों की संख्या अप्पय दीक्षित कृत 'कुवलयानंद' में 125 तक पहूंच गयी है। संख्या के समान स्वरूप में भी काल के क्रम से भेद होता रहा है। भामह से लेकर कुन्तक तक वक्रोक्ति का जो विकास हुआ वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वामन ने वक्रोक्ति को अर्थलंकार माना और रुद्रट ने शब्दालंकार । अर्थालंकार के विवेचन में इस संप्रदाय के आचार्यों ने मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है।

"काव्य शोभा करान धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षत"। अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। "सौन्दर्यमलंकारः" माना जाता है। " अलंकरोति इति अलंकारः" यह तत्व भी काफी प्रचलित है। "अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः"-वाली उक्ति भी मान्यता प्राप्त है। अलंकार शब्द का अर्थ है भावात्मक अलंकृति। अलंकार मत के आचार्यों को रस का तत्व अज्ञात नहीं था; पर उन्होंने उसे स्वतंत्र तत्व न मान कर काव्य के प्राण भूत तत्व अलंकार में अन्तर्भूत कर लिया है। भामह ने प्रेय, रसवत् आदि अलंकारों केद्वारा रस के समग्र विषय का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। दण्डी भी इस तत्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर उन्होंने आठों रसों तथा आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है। वो माधुर्य गुण के अतर्गत भी रस का समावेश मानते रहे। उद्भट ने अपने काव्यालंकार में रस की नव प्रकारता मानी है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार संप्रदाय के आचार्य रस तत्व से परिचित थे। लेकिन उन्होंने उसे अलंकार का एक रूप ही माना।

आलंकारिक आचार्यों को ध्वनि का भी ज्ञान प्राप्त था। रुय्यक कहते हैं कि भामह, उद्भट प्रभृति आलंकारिक आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को वाच्य का सहायक मान कर उसे अलंकार में ही अंतर्भूत कर दिया है। प्रतीयमान अर्थ के विवेचन के लिए रुद्रट ने 'भाव' नामक नवीन अलंकार की कल्पना की है उसे मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में गुणीभूत व्यंग्य का दृष्टांत मानकर उद्दृत किया है।

ऐसी दशा में हम इस निष्कर्ष पर पहूँचते हैं कि अलंकारवादी आचार्यों की सम्मति में प्रतीयमान अर्थ स्वतंत्र न होकर अलंकार विशेष में अन्तर्भूत रहता है। अलंकारवादी आचार्यों के बाद काव्य-संसार में अलंकार संप्रदाय का ह्रास होता रहा है। आज अलंकार के क्षेत्र में नयी-नयी परिकल्पनायें प्रचलित होती रहती हैं। संक्षेप में तमत्कार जनक वैचित्र्य अलंकार का मूलभूत तत्व है। इससे काव्य की कमनीयता बढ़ती है।

6. रस सम्प्रदाय-रस सिद्धान्तः-

"रस्यते इति रसः"-कमनीय काव्य के पढने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से चित्त में जो आलौकिक आनन्द उन्मीलित होता है वही रस है। रस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि हैं। उपलब्ध ग्रंथों में 'नाट्यशास्त्र' ही इस विषय का प्राचीन ग्रंथ है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि नाट्य-शास्त्र के पूर्व रस के विषय में विचार उपलब्ध न हो। ऐसा माना जाता है कि ब्रहमा के उपदेश पर भरत मुनि ने नाट्य -शास्त्र का प्रणयन किया था। स्वयं 'नाट्य-शास्त्र' में अपने पूर्ववर्तीय आनुवंशीय और आर्या छन्द इस बात को प्रमाणित करते हैं कि भरत के पूर्व भी रस के संबन्ध में विचार पर्याप्त मात्रा में हुआ था । 'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' में रस-सिद्धान्त का विवेचन है। पर 'अभिनवभारती' में ही इसका सांगोपांग निरूपण उपलब्ध होता है। नाटय शास्त्र के

षष्ठ तथा सप्तम आध्यायों में रस तथा भाव का अत्यन्त वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। भरत का मुख्य उद्देश्य नाटक का निरूपण था। इसलिए उन्होंने नाट्य रस का ही विस्तृत विवेचन किया है। काव्य के संबन्ध में रस-विवेचन पर वर्ती आलंकारिकों का प्रयास है। भारतीय आलोचकों की सम्मति में सर्वश्रेष्ठ काव्य नाट्यात्मक होता है। काव्य और नाट्य दोनों के अभिन्नत्व से नाट्य रस काव्य रस भी कहा जा सकता है। रस संप्रदाय का मूल भूत सूत्र है "विभावानुभाव व्यभिचारी संचोगत् रस निष्पत्ति"। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। कई टीकाकारों ने भरत मुनि के इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की है। टीकाकारों में प्रमुख रहे-भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त।

(क) भट्ट लोल्लट-उत्पत्तिवाद-आरोपबाद।

भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिबाद के अनुसार मुख्य रूप से रस नाटक के नायक के साथ संबन्ध रखता है। वे रस को विभावादि का कार्य मानते रहे। जो रस मुख्य भाव से मूल पात्र में उत्पन्न होता है वही राम की अवस्था में अनुकरण करने वाले नट में भी उत्पन्न होता है। इस रसोत्पत्ति में विभावानुभाव तथा संचारी भाव सम्मिलित रूप से कारण बनते हैं। स्थायी भाव को दर्शक के हृदय में अंकुरित करने का श्रेय विभाव को प्राप्त है। विभाव दो प्रकार के होते हैं-आलंबन तथा उद्दीपन। नायक और नायिका श्रंगार रस के आलंबन है। श्रतु, पुष्प-वाटिका, मलयानिल आदि जो इसको उद्दीप्त करते हैं, उद्दीपन विभाव कहलातै हैं। अनुभाव वह है जो अंकुरित रस का अनुभव दर्शक तथा श्रोता को कराता है। श्रृंगार रस के अनुभाव में कटाक्ष-विक्षेप, अश्रु-प्रवाह आदि होते हैं। संचारी भाव कतिपय क्षण तक टिकनेवाला वह भाव है जो आता जाता रहता है और अपनी सत्ता से स्थायी भावों को पुष्ट किया करता है। इन तीनों के संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। परन्तु इन तीनों की रस के प्रति कारणता एकरूप नहीं है।

रस और विभाव में उत्पाद्य-उत्पादक का संबन्ध रहता है। रस और अनुभाव के बीच अनुमाप्य-अनुमापक संबन्ध है। संचारी भाव का रस के साथ पोष्य-पोषक संबन्ध है। रस की निष्पत्ति वस्तुतः उसकी उत्पत्ति है। मुख्य वृत्ति से रस नाटक के अनुकार्य रांम-सीता में ही उत्पन्न होता है; परन्तु उन्हीं के रूप का अनुसंधान करनेवाले नट में भी उसकी प्रतीति होती है। लोल्लट के मत की सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह दर्शक तथा अभिनेता के संबन्ध की व्याख्या नहीं करता। रस राम में ही वस्तुतः उतपन्न होता है तो दर्शकों का इससे क्या संबन्ध? राम के अनुकरण करनेवाले नट में रस उत्पन्न होता है तो दर्शकों का इससे क्या संबन्ध? इन प्रश्नों का कोई उत्तर लोल्लट नहीं देते। इसिलिए श्री शंकुक ने लाल्लट की त्रुटि को दूर करने की चेष्टा की।

(ख)श्री शंकुक-अनुमितिवादः-

शंकुक नैयायिक थे। इनका सिद्धान्त अनुमितिवाद कहा जाता है। इन्होंने न्याय-दर्शन के अनुमान-प्रमाण के आधार पर रस-निष्पत्ति की व्याख्या की चेष्टा की। इनके अनुसार रस अनुमान का विषय है। रंगमंच पर अभिनेता नाटक के मूल पात्रों का अभिनय इतनी स्वाभाविकता तथा रोचकता से करता है कि दर्शक आनन्द विभोर हो जाते हैं। शंकुक नट (अभिनेता) को राम से (मूल पात्र से) अभिन्न मान लेते हैं। राम की भूमिका बाँधनेवाले नट चित्र-तुरंग न्याय से राम से भिन्नाभिन्न संबन्ध रखता है। राम में जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है, उसी रस का अनुमान के द्वारा नट में भी आरोप किया जाता है। दर्शक इस रस को अमुमान के बल पर ग्रहण करता है और आनन्द उठाता है। 'भरत-सूत्र' में जो 'संयोगत्' शब्द है उसका अर्थ इन्होंने अनुमानार्थ और

निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' माना है। इस मत में अनुकरण के बल पर नट में रस का अनुमान किया जाता है और तद्द्वारा अनुकर्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस प्रकार शंकुक का मत है कि रस अनुकरण रूप होता है। अभिनवगुप्त के आचार्य भट्टतौत ने शंकुक के मत का बडे विस्तार से खण्डन किया। उनके विचार से अनुमान की शास्त्रीय पद्धति के भीतर रसास्वादन की स्थिति कथमपि संभव नहीं। अनुमान-व्यापार कभी आहलाददायक नहीं हो सकता। रस के आस्वादन के समय संभावित आनन्द अनुमान कभी उत्पन्न नहीं कर सकता।

ग. भट्टनायक-भुक्तिवादः-

ये रस -सूत्र के तीसरे व्याख्याता हैं। इनके समय तक ध्वनि सिद्दान्त का खूब प्रचार हो चुका था। इसलिए उन्होंने एक ओर भट्ट लोल्लट तथा शंकुक के प्रतिपादन का खण्डन किया और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त के निराकरण केलिए 'ध्वनि-ध्वंस' नाम से प्रसिद्ध हदय-दर्पण नामक ग्रंथ लिखा। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक दोनों रस को अनुकार्यगत मान कर चलते रहे। नट तथा प्रेक्षक से उसका कोई संबन्ध नहीं रहता। फलतः आस्वादन की आशा नहीं की जा सकती । अनुकार्य में प्रेक्षक द्वारा स्वानुभूति की स्मृति और आस्वादनवाले सिद्धान्त का भी भट्टनायक ने खण्डन किया।

भटटनायक ने उक्त दोषों को दूर करने केलिए अभिधा शक्ति के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों की स्थापना की। अभिधा को प्रचलित अर्थ में स्वीकार किया। भट्ट नायक ने व्यक्तित्व-व्यतिरिक्त बोध केलिए भावकत्व शक्ति की कल्पना की। उनके अनुसार नट की अभिनय-कुशलता, वेश-भूषा आदि के कारण प्रेक्षक का मन व्यक्ति विशेष को विस्मृत करने लगता है। वह उसे सामान्य रूप में ग्रहण करता है। यही साधारणीकरण कहा जाता है। इस स्थिति की सिद्धि केवल भावकत्व शक्ति द्वारा प्राप्त होती है। भट्ट नायक के अनुसार काव्य की तीसरी शक्ति है भोजकत्व। सामाजिक इस शक्ति के द्वारा भावकत्व से भावित रसादि का भोग करता है। यह लौकिक भोग नहीं, वरन् परब्रहमास्वाद के सदृश है। इस प्रकार रस-सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ है 'भुक्ति'। यहाँ विभावादि स्थायी के भोजक है और स्थायी भोज्य है, अतः भोज्य-भोजक संबन्ध है। यह मत रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के बहुत निकट है। लक्षणातथा व्यंजना के प्रतिपादकों ने भट्टनायक द्वारा उद्भावित भावकत्व व्यापार को व्यर्थ माना।

(घ)अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादः-

अभिनवगुप्त साहित्य-विद्या में भट्टतौत के शिष्य हैं। इनकी 'अभिनवभारती' और ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रस-सूत्र की व्याख्या शैव-सिद्धान्त की भूमिका पर की है। अभिनवगुप्त ने रस का सीधा संबन्ध सामाजिक के भावों से बताया। उन्होंने स्थापित किया कि रस -परिपोष केलिए सामाजिक में अनादिवासना की आवश्यकता है। वासना-संवाद ही रसानुभूति का मुख्य हेतु है। रसास्वादन के प्रकरण में अभिनवगुप्त ने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण सिद्धान्त को ग्रहण किया है। साधारणीकृत भाव आनन्दमय होता है। प्रेक्षक के आनन्द का यही कारण होता है इनके मत में संयोग का अर्थ है 'व्यंग्य व्यंजक भाव' और निष्पत्ति का अर्थ है 'अभीव्यक्ति'। यद्यपि इनके विचारों के विरुद्ध कई आपत्तियाँ उठायी गयी हैं तथापि साहित्यिक क्षेत्र में अभिव्यक्तिवाद की महत्ता सर्वादृत हो चुकी है। उन्होंने वासनागत स्थायी भावों का संकेत करके सामाजिक की कल्पना वासनागत स्थायी भावों का संकेत करके सामाजिक की कल्पना को रसास्वादन में सहायक सिद्ध-किया है। यह कल्पना व्यक्तिगत नहीं है; इसलिए सुख-दुखातीत

और केवल अलौकिकानन्ददायिनी बनी रहती है। साधारणीकरण की व्यापकता, आनन्द-प्राप्ति में विभावादि का योग आदि कई बातों पर अभिनव के विचार खतः पूर्ण एवं मौलिक हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत्वोद्रेक प्रकाश आनन्दमयः संवित् विश्रान्ति हीरसानुभूति है।

टिप्पणियाँः-

1. साधारणीकरणः-

इस सिद्धान्त का प्रवर्तन भट्टनायक ने रस निष्पत्ति संबन्धी भरत-सूत्र की व्याख्या के अंतर्गत किया है। उनहोंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या के दोषों को दूर करने केलिए इसका प्रयोग किया है। उनके अनुसार भट्टलोल्लट के आरोपवाद(उत्पत्तिवाद) तथा श्री शंकुक के अनुमितिवाद की स्थापनाओं में जो दोष आ जाते हैं उनके परिहार केलिए साधारणीकरण की स्वीकृति आवश्यक है। भट्टनायक का प्रस्ताव है-जब पाठक अथवा दर्शक काव्य या नाटक के अभिधार्थ को ग्राहण कर लेता है तब उसके हृदय में भावकत्व शक्ति के द्वारा विभावादि के साधारणीकरण हो जाने से 'निबिड निज मोह रूपी संकट' नष्ट हो जाता है। उसमें रज तथा तम पर अधिकार करके सत्वोद्रेक का प्रकाश फैलने लगता है। इस स्थिति में उसके हृदय में 'मैं' और 'पर' का द्वैत दूर हो जाता है। वह प्रदर्शित या वर्णित घटना या पात्र को उसके स्थिति -विशेष में ग्रहण नहीं करता । वह उनको अपने व्यक्तित्व से संबद्ध या असंबद्ध भी नहीं समझता। इसी स्थिति का फल है कि सहृदय भोजकत्व शक्ति के द्वारा उद्बुद्ध भावों का रसास्वादन करने लगता है। यह रसास्वादन परब्रहमास्वाद के समान है। यह परिस्थिति जिस व्यापार से संभव होती है, वस्तुतः उसी को साधारणीकरण माना गया है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसाह रस-निष्पत्ति केलिए साधारणीकरण आवश्यक शब्द है।

भट्टनायक के बाद आनेवाले कई विचारकों ने साधारणीकरण को सामान्यीकरण ही माना है। 'काव्य-प्रदीप' के अनुसार नायिका विशेष का सामान्यतः कामिनी भाव रूप में उपस्थित हो जाना साधारणीकरण है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक द्वारा उद्भावित भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियों को अस्वीकार करके भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि ने काव्य के वास्तविक सौंदर्य-तत्व को ग्रहण कर लिया था। अतएव उनकी रस संबन्धी व्याख्यायें गहन एवं पूर्ण हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण के दो स्तर हैं। एक स्तर पर वाक्यार्थ-बोध के अनन्तर सहृदय में मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसमें देश-काल और विभाव विशेष का अभाव हो जाता है। दुसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बन्धन नष्ट हो जाता है। अर्थात् विभावादि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का भी साधारणीकरण होता है । इस प्रक्रिया में भय आदि स्थायी भाव, कंप आदि संचारी भाव को व्यक्ति संबन्ध से मुक्त कर के सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी वासना की स्वीकृति तथा स्थायी भाव की साधारणीकरण-क्षमता को मान्यता देकर अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। साधारणीकृत स्थिति में रत्यादि उस रूप में अनुभव होने लगता है जिसमें निज -पर की भावना नहीं रहेगी।

आधुनिक विचारकों में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे अधिक विस्तार से साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या की है। उनका कथन है:-जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। प्रगतिवादी आलोचकों ने साधारणीकरण का अर्थ 'परंपरा से भिन्न सामान्य प्रेषणीयता' के रूप में लिया है। वस्तुतः काव्य की अनुभूति सौंदर्यमूलक है। रसानुभूति तथा सौंदर्यानुभूति में मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता । रस-सिद्धान्त इसी काव्यात्मक सौंदर्य की मानव के भावों के आधार पर व्याख्या करने का प्रयत्न है। साधारणीकरण इस व्याख्या का अनिवार्य अंग है।

(2) कवि -समयः-

काव्य के अंतर्गत शब्द, अर्थ या भाव तथा रसानूभूति आती है। अतः काव्य संबन्धी प्रतीक भी इन्हीं से संबन्धित हैं। परंपरा से प्रचलित काव्य-प्रतीक हैं-कवि-समय, कवि-प्रौढोक्तियाँ, कथानक रूढियाँ, क्रिया-प्रतीक आदि। कवि-समय शब्द का प्रयोग राजशेखर की काव्य-मीमांसा में मिलता है। उनके अनुसार पिछले विद्वानों ने सहस्त्रों शाखावाले वेद का अवगाहन कर, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों एवं द्वीपान्तरों में भ्रमण कर जिन बातों को जान लिया और उन्हें अपने काव्य में स्थान दिया, वे बातें भले ही आज उस रूप में न मिलती हों, फिर भी उनका वैसा वर्णन करना कवि-समय है। राजशेखर से पहले वामन ने 'काव्य-समय' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यह राजशेखर के कवि-समय से भिन्न है। उसका प्रयोग वामन ने व्याकरण, छन्द आदि के संबन्ध में प्रतिष्ठित कवि-परिपाटी के अर्थ में किया है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः राजशेखर के आधार पर कवि-समयों का वर्णन किया है।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित कुछ कवि-समय इस प्रकार हैं:- चन्द्रमा के कलंक को खरगोश या हिरण मानना, जलाशय मात्र में हंसों का वर्णन, मलय गिरि को चंदन का उत्पत्ति स्थान मानना, चक्रवाक मिथुन का रात में अलग रहना आदि।

(3) कथानक रूढियाँ:-

कथानक रूढियाँ वे हैं जो समान परिस्थितियों में समान मनःस्थित और प्रभाव उत्पन्न करने केलिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आती हैं। इनको 'अभिप्राय' भी कहते हैं। देश तथा विदेश की सभी भाषाओं में इन कथानक रूढियों का प्रयोग होता है, चाहे एक-एक भाषा में प्रयुक्त कथानक रूढियाँ भिन्न-भिन्न क्यों न हों। इनकी लंबी परंपरा होने के कारण इनके प्रयोग मात्र के द्वारा ही इनकी सारी पृष्ठभूमि तथा भविष्य के परिणाम अथवा संभावनायें व्यंजित की जा सकती है। इसलिए कथानक रूढियाँ प्रायः लोक-विश्वास अथवा कवि-कल्पना पर आधारित होती है। रूप-परिवर्तन, वेश-परिवर्तन, आकाशवाणी, स्वप्न, मृत व्यक्ति का जीवित हो उठना, भगवान का प्रकट होना तथा अंतर्धान होना, पशु-पक्षी द्वारा सहाय, पाषाण का जीवित हो उठना आदि पुराणों में प्राप्त कथानक रूढियाँ हैं। प्रबंधात्मक काव्यों में कथानक रूढियों की भरमार रहती है। रामचरित मानस में इनका प्रयोग अधिक व्यापक और प्रभावशाली बन पडा है।

(4) काव्य-हेतुः-

भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह कवि केलिए भूषण की बात है। कवि की रचना का उदय किस कारण या कारणों के द्वारा संपन्न होता है यह काव्य-हेतु

के अन्तर्गत आता है। 'प्रतिभा' कवि केलिए काव्य का प्रधान साधन है। आचार्य भामह के अनुसार काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से संपन्न होता है। गुरु के लाख उपदेश देने पर भी शिष्य के हृदय में काव्य का अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता , यदि उसमें प्रतिभा का अभाव रहता है। इस प्रकार भामह ने काव्य-हेतुओं में सबसे श्रेष्ठ स्थान प्रतिभा को ही प्रदान किया है।

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता- नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होनेवाली कोई कवित्व-शक्ति ही प्रतिभा है। वामन के शब्दों में प्रतिभा कवित्व का बीज है। यह पूर्व जन्म से आनेवाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूप से कवि-हृदय में निवास करता है। प्रतिभा के बिना काव्य निष्पन्न ही नहीं होता। राजशेखर के शब्दों में प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय में शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को और अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है।

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार विशेष है। यह ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्म में होनेवाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। इसी के बल पर कवि उन वस्तुओं के वर्णन में भी समर्थ होता है, उन तत्वों के उन्मीलन में भी कृतकृत्य होता है जो साधारण मानव बुद्धि से कथमपि साध्य नहीं होते। समह के अनन्तर दण्डी ने काव्य-साधक हेतुओं में प्रतिभा के साथ शास्त्र-ज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। वे यह आग्रह करते थे कि यदि शास्त्र से तथा यज्ञ से कविता की उपासना की जाए तो सरस्वती उस कवि के ऊपर अपनी अनुकंपा अवश्यमेव दिखलाती है। वामन भी प्रतिभा के अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य-रचना में उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। रुद्रट प्रतिभा के स्थान पर 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु मानते हैं। आनन्दवर्धन की सम्मति में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। आचार्य राजशेखर शक्ति को ही काव्य केलिए सबसे अधिक उपादेय कारण मानते हैं। उन्होंने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है-कारयित्री और भावयित्री। आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। शक्ति प्रतिभा का ही दूसरा नाम है। इसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि काव्य-स्फूर्ति के निमित्त शक्ति या प्रतिभा तो सर्वोतिशायिनी साधन है।

(5) मधुमती भूमिकाः-

मधुमती भूमिका का रस-सिद्धान्त से अभिन्न संबन्ध है। यह योग की समाधि दशा है जिसमें रज और तमोगुणों का लोप होता है और सत्व गुण की पूरी आभा होती है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में है। अतः प्रेक्षक, श्रोता अथवा पाठक के हृदय में जो रसानुभूति होती है उसकी प्रक्रिया समझने केलिए मधुमती भूमिका पर ध्यान देना चाहिए। मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिस में वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती । शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक प्रतीति वितर्क है। दुसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबन्ध और वस्तु के संबन्धी इन तीनों के भेद का निर्धारण करना ही वितर्क है।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है जब उसका चित्त इस अवस्था या मधुमती भूमिक का स्पर्श करता है। तब समस्त वस्तु जगत उसे दिव्य प्रतीत होने लगता है। एक प्रकार से उसकेलिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। मधुमती भूमिक का साक्षात्कार करते हैं

साधक की शुद्ध सात्विकता देख कर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं। इसी दिव्य भूमिका तकयोगी की पहूँच साधना के बल पर होती है। इस भूमिका तक प्रातिभ-ज्ञान संपन्न सत् कवि की पहूँच स्वभावतः हुआ करती है। साधक और कवि में अंतर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है। पर कवि अनिष्ट रजस या तमस के उभरते ही उससे नीचे उतर पडता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुख से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समाधि का रूप खडा कर देती है। यही रसास्वाद की अवस्था है; यही रस की ब्रहमास्वाद सहोदरता है। कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बन्धन से बन्धा है। रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है, जिसमें अनुभूति अखण्ड और एकतान होती है। चित्त-वृत्ति की इसी एकतानता का नाम है साधारणीकरण। इस भूमिका में आनन्दानुभूति होती है। इस भूमिका में पहूँचने पर साधक के ही समान कवि और पाठक-प्रेक्षक का ही अनुभव तथा ज्ञान सामान्य और साधारण होता है। मधुमती भूमिका में पहूँचे कवि का मन जब उल्लसित हो कर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुन्दरता पर मुग्ध होकर रीझता है उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान, एकलय हो जाती है। इसीलिए उसकी रचना भावों का संगीत है।

(6) वृत्तियाँः-

"वृत्तयो नाट्य मातरः।

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः"।

वृत्तियाँ नाट्य की माता है। सारे काव्यों में वृत्तियाँ माता के रूप में स्मरण की जाती हैं। 'नाट्य-शास्त्र' में वृत्तियों का विचार अपनी एक अलग स्वतंत्र सत्ता रखना है। नाट्य शास्त्र के 22 वें अध्याय में इस विषय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। भरत मुनि वृत्तियों के उद्गम का संबन्ध भगवान विष्णु के द्वारा मधु-कैटभ के वध से दिखलाते हैं।

महाप्रलय का समय था। जगतीतल जलमय था। सर्वत्र समुद्र ही समुद्र था। भगवान नारायण शेषनाग की सुखद शय्या पर योग-निद्रा में लीन थे। उनके नाभि-कमल के ऊपर भूत भावन ब्रहमा विद्यमान थे। उसी समय रण-पिपासु मधु-कैटभ नामक असुर युद्ध केलिए उन्हें चुनौती दे रहे थे। ब्रहमा ने विष्णु को जगाया और विष्णु ने अपने उग्र पराक्रम से इन असुरों का संहार किया। इस भयंकार युद्ध के दौरान विष्णु ने जो-जो चेष्टायें प्रदर्शित कीं उन्हीं से इन नाट्य वृत्तियों की उत्पत्ति हुई। ये वृत्तियाँ संख्या में चार हैं-भारती, सात्वती, कैशिकी और आर्भटी। भरत ने इन वृत्तियों का संबन्ध चारों वेदों से बतलाया है जो नितान्त औचित्यपूर्ण है। वृत्ति का सामान्य अर्थ है पुरुषार्थ का साधक व्यापार; अर्थात वह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करता है। काव्य तथा नाटक में वृत्ति का राज्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार वृत्ति पुरुषार्थ साधक व्यापार है। यह काव्य की माता है। वृत्तियाँ समस्त जीव-लोक में व्याप्त हैं। नाटक के पात्र तथा काव्य के नायक के कार्य, वचन और मन की विचित्रता से संवलित चेष्टा ही वृत्ति कही जाती है। किसी अवस्था विशेष में रहनेवाले मनुष्य की कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टा या व्यापार वृत्तियाँ हैं। दशारूपककार धनंजय के अनुसार नेता के व्यापार के अनुरूप ही वृत्ति का विधान होता है। वृत्ति अभिनेय काव्य के समान अभिनयहीन काव्य में भी हो सकती है।

भारती वृत्ति शब्द-प्रधान है तथा शेष तीनों वृत्तियाँ अर्थ प्रधान हैं। इसलिए भारती शब्द-वृत्ति के नाम से तथा इधर तीनों वृत्तियाँ अर्थ वृत्ति के अभिधान से साहित्य शास्त्र में प्रसिद्ध है। नाटक में वृत्तियों की योजना का प्रधान अभिप्राय दर्शकों के हृदय में रस तथा भाव का संचार करना होता है। वृत्ति का प्रयोग अलंकार -शास्त्र में शब्द-शक्ति केलिए भी किया जाता है। उद्भट ने अनुप्रास के प्रभेदों का वर्णन करते समय परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या नामक तीन वृत्तियों का विवरण भी दिया है। ऐसा कोई व्यापार नहीं है जो वृत्ति के आधार से शून्य हो। अतः वृत्ति का क्षेत्र व्यापक तथा विस्तृत है।

(7) वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का बिलायती उत्थान कहा है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में बहुत बडा अन्तर है। अभिव्यंजनावाद के आचार्य क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक रहे, जिसने अपने ढंग से उन्नीसवीं सदी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की। मगर वक्रोक्तिकार कुन्तक की दृष्टि सर्वथा साहित्यिक है। फिर भी दोनों की तुलना करने पर कुछ समतायें और कुछ विषमतायें मिल जाती हैं। समतायें तीन मानी जाती हैं। प्रथम तो यह है कि क्रोचे और कुन्तक दोनों ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं और उसे अनिर्वचनीय घोषित करते हैं। दूसरी समता यह है कि दोनों ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व देते हैं; अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौंदर्य) मानते हैं; वस्तु या भाव में नहीं। तीसरी समता यह है कि दोनों ही सौंदर्य की श्रेणियाँ नहीं मानते। दोनों के मत में सफल अभिव्यंजना ही सौंदर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक ही हो सकती है।

विषमताएँ पाँच हैं-प्रथम तो यह है कि वक्रोक्ति का संबन्ध उक्ति-वक्रता से है जबकि अभिव्यंजना का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक कवि-कौशल है, परन्तु अभिव्यंजनावाद एक अध्यात्मिक आवश्यकता है। दूसरा अंतर यह है कि वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चलता है। इसके विपरीत अभिव्यंजनावाद में इसकी सत्ता तक स्वीकृत नहीं। यदि वह आ भी जाए तो सहज उक्ति के रूप में उसकी स्वीकृति होगी; अलंकार रूप में नहीं। तीसरा भेद यह है कि वक्रोक्ति में वस्तु की सत्ता उक्ति से पृथकमानी गयी है, परन्तु अभिव्यजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है। चौथा वैषम्य यह है कि वक्रोक्ति में कला की समस्या आरोपित है, जब कि अभिव्यंजनावाद के गर्भ से ही कला की समस्या का जन्म होता है। पाँचवीं विषमता यह है कि अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति की अन्विति पर आश्रित है; अतएव रस (भाव) से उसका संबन्ध अन्तरंग और तात्विक है। इसके विपरीत वक्रोक्ति कवि-कौशल पर आश्रित है। इसलिए उसका रस से संबन्ध बहिरंग एवं नाममात्र का है।

(8) आलोचना की शुक्ल-पद्धतिः-

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी मूर्धन्य विद्वान माने जाते हैं। उनके नाम पर आलोचना के क्षेत्र में एक पद्धति चल पडी है। शुक्लजी की विद्वात्ता और आलोचना-शक्ति के आगे आज के आलोचक भी नतमस्तक हैं। शुक्लजी की मान्यता थी कि वही साहित्य पनपना चाहिए जो समाज का कल्याण कर सके। जो कवि समाज की अवहेलना करता है, कविता को उच्छृंखल बनाता है वह कवि उनकी राय में सत् कवि नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक अपनाया है और छायावादी काव्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। शुक्लजी केलिए काव्य का सौन्दर्य लोक मंगल में ही निहित है। पर इस बात को कुछ आलोचक पसंद नहीं करते।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार "काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्लजी इसे स्वीकार नहीं कर सके। काव्य की आत्मा की और उनकी दृष्टि गयी, किन्तु आत्मा के स्थूल पक्ष व्यवहार या नीति पर ही वह टिकी रही। काव्य-विषय का आग्रह उन्हें तुलसीदास के समीप ले गया"। आलोचकों का आक्षेप है कि उनकी अभिरुचि विशुद्ध काव्यात्मक भाव -संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-रत्ता में अधिक थी। उनकी रस सिद्धान्त संबन्धी व्यारव्या भाव - व्यंजना अथवा अनुभूति पर आश्रित न हो कर नैतिक एवं लोकवादी आधार पर अवलंबित है। शुक्लजि ने तुलसी, सूर, जायसी आदि पर विस्तृत समालोचना लिख कर हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित रूप दिया। इसका निन्दा कोई विद्वान नहीं कर सकता। आलोचना के इतिहास का विध्यार्थी शुक्लोत्तर आलोचना पद्धति को समझने केलिए आलोचना की शुक्ल - पद्धति की उपेक्षा नहीं कर सकता।

(9) आलोचना की शुक्लोत्तर पद्धतिः-

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अराजकता तथा अव्यवस्था की स्थिति रही। किसी एक व्यापक मान्यता की स्थापना न हो सकने के कारण साहित्य के मूल्यांकन केलिए कोई ऐसा आधार नहीं मिला जिस पर सभी सहमत हों। इसका कारण वे अनेक मत-वाद हैं जो नयी समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मत-वादों में अत्यधिक उलझ जाने के कारण साहित्यिक विवेचन की कोई स्वतंत्र परंपरा नहीं बन पा रही। दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न आलोचकों ने शुक्लोत्तर आलोचना का विविध पद्धतियों में वर्गीकरण किया है। डां भगवत स्वरूप मिश्र ने सौष्ठववादी, मनोविश्लेषणवादी और मार्क्सवादी नाम से आलोचना की तीन विशिष्ट पद्धतियों का उल्लेख किया है। डा.नगेन्द्र ने प्रभाववादी, शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक पद्धतियों की चर्चा भी की है।

सौष्ठववादी पद्दति का मूलभूत मानंदड सौष्ठव या स्वच्छन्दता है। इसे स्वच्छन्दतावादी पद्दति भी कहते हैं। छायावादी कवियों की चिन्तन-पद्धति को इस पद्धति के आलोचक भी अपनाते हैं। इसमें सौष्ठव अथवा सौंदर्य को ही काव्य के मूल्यांकन की कसौटी माना जाता है। मार्कसवादी पद्धति का दूसरा नाम प्रगतिवादी पद्धति है। व्यक्ति चिन्तन की अपेक्षा समाज-चिंतन पर यहाँ बल दिया जाता है। समाज -हित पर ही व्यक्ति-हित आश्रित है। शुक्ल-पद्धति और मार्क्सवादी पद्धति दोनों का आधार समाज-कल्याण है। मगर साहित्य के उद्देश्य में समानता नहीं है। शुक्लजी साहित्य का उद्देश्य मानव की रागात्मक वृत्तियों का परिष्कार मानते रहे;जबकि मार्क्सवादी आलोचक साहित्य का उद्देश्य मानव का भौतिक विकास मानते हैं। मनोविश्लेषणवादी पद्धति के ऊपर प्रसिद्ध विचारक फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषण संबन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव है। आलोचना की उपरोक्त पद्धतियों के अतिरिक्त नयी आलोचना शीर्षक एक नयी पद्धति भी चल पडी है। इसके अनुसार साहित्य की हर कृति को अपने आप में संपूर्ण, स्वचालित यंत्र के रूप में देखना चाहिए।

इस प्रकार शुक्लोत्तर युग में हिन्दी का आलोचना साहित्य विकास के कई आयामों से गुज़र रहा है।

PART.C - पाश्चात्य समीक्षा

पाश्चात्य साहित्य -चिन्तन

(40 Marks)

ESSAYS

1.प्लेटो.....दार्शनिक विचार, राजनीतिक विचार, साहित्य संबन्धी दृष्टिकोण, उपलब्धियाँ:-

यूनान पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आद्दि स्रोत रहा है। ईसा से चार पाँच शताब्दियों पूर्व यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य-चिन्तकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था उन्हीं की अनुगूंज परवर्ती युग में यूरोप में सुनायी देती है। यूनान के गौरवशाली चिंतकों एवं महान दार्शनिकों में सुकरात के शिष्य प्लेटो का नाम सर्वोपरि है। वे मूलतः दार्शनिक एवं आचार्य थे। उन्होंने ई.पू. 388 में अपनी जन्मभूमि एथेन्स में एक विद्यालय की स्थापना की थी और अंत तक वहाँ अध्यापन - कार्य करते रहे। देश - विदेश का आपने भ्रमण किया था। उनका दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतंत्र एवं मौलिक रहा। प्लेटो के ग्रथों में The Republic (गणराज्य), The statesman (राजनेता) आदि उल्लेखनीय हैं। प्लेटो के साहित्यिक विचारों की पूर्व पीठिका है उनके दार्शनिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों से परिचय।

दार्शनिक विचार:-

दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या अन्तिम सत्य की खोज है। इस क्षेत्र में दार्शनिकों के दो वर्ग रहे हैं-प्रथम वर्ग सूक्ष्म सत्ता एवं परोक्ष शक्ति को अन्तिम सत्य या शाश्वत तत्व मानता है। इसे परमात्मा का नाम भी दिया जाता है। दूसरा वर्ग स्थूल एवं भौतिक जगत को ही सृष्टि का आधारभूत तत्व एवं सत्य मान लेता है। इन्हें क्रमशः आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहते हैं। प्लेटो प्रथम वर्ग में आते हैं। उनके अनुसार यह जगत किसी आध्यात्मिक लोक की प्रतिच्छाया है। फलतः यह जगत और इसके पदार्थ मिन्त्या हैं। उनका वास्तविक रूप विचार (Idea) आध्यात्मिक लोक में विद्यमान है। इस सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों के अनुसार हुआ है। अतः विचार ही मूल तत्व है, जबकि वस्तु मिथ्या है। अतः प्लेटो भारतीय अद्वैतवादियों की भाँति जगत को मिथ्या और विचार रूपी ब्रहम को सत्य मानते थे। इस विचार -धारा का प्रभाव प्लेटो के राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पडा है।

राजनीतिक विचार:-

प्लेटो के युग में यूनान की राजनीति अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में थी। प्रजातंत्रीय व्यवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। इसलिए एक नयी शासन-प्रणाली के आविष्कार केलिए प्लेटो लालायित थे। उसमें सत्य के पुजारियों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो, उसकेलिए वे सैनिक शिक्षा को महत्व देते थे। आदर्श शासकों का चयन सत्य के पुजारियों से किया जाना था। प्लेटो का सपना एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का था जिसमें सत्य, न्याय, धर्म और सदाचार की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सके। इसकेलिए शासकों में इन सबकी प्रतिष्ठ आवश्यक है। वस्तुतः कला और साहित्य पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष दृष्टि से विचार करना प्लेटो का लक्ष्य नहीं था। बल्कि आदर्श गणराज्य की सहयोगिनी शक्तियों के रूप में ही इनकी आलोचना की गयी है। फलतः वे इनके साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

साहित्य संबन्धी दृष्टिकोणः-अनुकरणवाद (अनुकृतिवाद):-

प्लेटों केलिए साहित्य का महत्व उसी सीमा तक था जहाँ तक वह आदर्श गणराज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय, और सदाचार की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला और साहित्य से असीम आनन्द प्राप्त होता है-इसे वे स्वीकार करते थे। किन्तु कला या साहित्य की कसौटी उनकेलिए सौंदर्य या आनंद न होकर 'उपोगिता' था। जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है। उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही साहित्य पर विचार किया है। दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोत्तेजक एवं भावोद्वेलन प्रधान था। अतः सामाजिक हित की दृष्टि से साहित्य उपयोगी सिद्ध नहीं होता था। फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध अनेक आक्षेप आरोपित किये।

(क) मिन्यात्वः-

प्लेटो ने काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत की मिथ्या अनुकृति सिद्ध किया। उनके अनुसार साहित्य या कला में वर्णित वस्तुएँ पहले से ही भौतिक जगत में विद्यमान हैं। इनकी अनुकृति कवि या कलाकार अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। यह अनुकृति दोप्रकार की हो सकती है- (1) कुर्सी को देखकर अनुकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना। (2) कुसी को देख कर कुर्सी का चित्र या वर्णन मात्र प्रस्तुत करना। प्लेटो दूसरे प्रकार की अनुकृति को एक प्रकार की मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति मानते हैं। चित्रकार,कवि और कथाकार भी ऐसी ही मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करते हैं। फलतः सत्य या विचार नष्ट हो जाते हैं।

(ख) अमौलिक एवं अज्ञानीः-

कवि या चित्रकार वस्तुतः कृति नहीं, अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है। अतः उस पर दूसरा आक्षेप अमौलिकता एवं अज्ञानता को आरोपित किया जा सकता है। प्लेटो के मत में कवि या चित्रकार का महत्व उतना भी नहीं जितना मोची या बढ़ई का। कवि या कलाकार सरलप्रकृति के लोगों और बच्चों के मन में भ्रम का संचार करता है। इस प्रकार कवि न केवल स्वयं अज्ञानी है, अपितु वह अज्ञान के प्रसार में भी योग देता है।

(ग) अनुपयोगीः-

कवि या साहित्यकार अनुकृति के बल पर जो रचना प्रस्तुत करता है वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अतः प्लेटो के विचार से कलात्मक रचनायें समाज केलिए सर्वथा अनुपयोगी है। प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा है - कविजन यह सिद्ध करें कि कविता की समाज केलिए क्या उपयोगिता है! उस युग में होमर कवियों में सर्वश्रेष्ट माने जाते थे। प्लेटो भी उनका सम्मान करते थे। फिर भी उन्होंने होमर की महानता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। इस प्रकार प्लेटो होमर जैसे कवि की अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक महत्व देते थे जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोगमुक्त कर सके या युद्धों का ज्ञान प्रदान कर सके अथवा राज्य की शासन - प्रणाली में कोई सुधार कर सके। दूसरे शब्दों में प्लेटो कवि में कवि के नहीं; अपितु चिकित्सक, योद्धा, नेता या अध्यापक के गुणों की खोज करते थे। प्लेटो नैतिकता पर ज़ोर देनेवाले आचार्य थे। उनके शब्दों में - "morality teaches us, art does not attempt to teach.Art is the imitation of an imitation and it is twice removed from reality". प्लेटो का विश्वास था - "Poetry feeds and waters the Passions instead of drying them up.It is the duty of the wise man to control Passion by reason".

कवि जिन वस्तुओं एवं पात्रों की रचना करते हैं वे अमर हैं। अतः कहना चाहिए कि वह मिथ्या जगत को पुनः सत्य में परिणत कर देता है। गणित का यह नियम है कि दो निषेधात्मक तथ्य एक विधेयात्मक तथ्य में परिणत हो जाते हैं। इस नियम के अनुसार भी मिथ्य जगत की मिथ्या अनुकृति सत्य कृति कही जा सकती है। अतः प्लेटो का आक्षेप भ्रामक एवं असंगत सिद्ध होता है। प्लेटो किसी भी वस्तु का महत्व उपयोगिता की कसौटी पर कस कर देखते थे।

प्लेटो की उपलब्धियाँ:-

कवि और कलाकार कभी - कभी युगीन प्रवृत्तियों में बह कर अपनी रचनाओं को वासनाओं, कुंठाओं एवं अनाचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। वे कवि - कर्म को जीवन की उदात्त एवं गंभीर साधना बनाने की अपेक्षा उसे कामुक,लंपटों एवं व्यभिचारियों की कला का रूप दे देते हैं। ऐसी स्थिति में कविता व्याज्य हो जाती है। दुर्भाग्य से प्लेट्रो भी ऐसे ही वातावरण में ज़िन्दा थे। कविता की बुराई की ओर संकेत करते हुए उसकी प्रकृति एवं प्रक्रिया के बारे में प्लेटो ने जो सुझाव दिये थे वे अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। एक तो उन्होंने कविता को अनुकृति बताकर काव्यमीमांसा के क्षेत्र में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जो परवर्ती युग में विकसित हो कर काव्य - समीक्षा का आधार बना। दूसरे, उन्होंने काव्यानुभूति का स्तर निर्धारित किया। इस दृष्टि से प्लेटो की मान्यतायें भारतीय रस - सिद्धान्त के बहुत निकट पडती है। फिर भी अपने दृष्टिकोण की एकांगिता एवं अपने युग के काव्य की दूषित प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण प्लेटो कविता को तटस्थ दृष्टि से नहीं देख सके। उनमें घोर आदर्शवादिता थी। आदर्शवाद ही प्लेटो का जीवन लक्ष्य था। जो भी हो, पाश्चात्य काव्य-मीमांसा की चर्चा की शुरूआत का योगदान प्लेटो की महती उपलब्धि है।

2. अरस्तू - Aristotle:- अनुकृति सिद्धान्त, विरेचन सिद्धान्त

अरस्तू पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत हैं। यूनानी ज्ञान-विज्ञान और उसकी मूल प्रेरणा- केन्द्र थी अरस्तू की प्रतिभा। ये महान दार्शनिक प्लेटो के शिष्य रहे। प्लेटो इन्हें अपने विद्यापीठ का मस्तिष्क कहा करते थे। अरस्तू ने प्लेटो के अनेक सिद्धान्तों का दृढतापूर्वक खण्डन किया। फिर भी गुरु-शिष्य के संबन्ध प्रायः अन्त तक मधुर ही बने रहे। अरस्तू सिकन्दर महान के शिक्षक भी रह चुके हैं। अरस्तू की प्रतिभा बहुमुखी थी। यद्यपि भौतिक विज्ञान और उसके अन्तर्गत भी प्राणी विज्ञान उनका मुख्य विषय था । तथापि वे अनेक विद्याओं के आचार्य थे। कहते हैं कि बावन वर्ष के जीवन में उन्होंने लगभग 400 ग्रंथों की रचना की। उनके ग्रंथों में तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, ज्यार्तिविज्ञान, साहित्य शास्त्र, दर्शन आदि अनेक विषयों पर विवेचन पाया जाता है। साहित्य शास्त्र से संबन्धित उनका ग्रंथ है "काव्य-शास्त्र" (poetics). ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अरस्तू का स्थान वही है जो भारतीय काव्य-शास्त्र में भरत मुनि का। अरस्तू ने आज से लगभग 2400 वर्ष पूर्व यूरोप में ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात किया। पाश्चात्य सभ्यता के उस प्रभात काल में अरस्तू ने नैतिक और राजनैतिक मूल्यों से स्वतंत्र कलागत मूल्यों की प्रतिष्ठा कर काव्य और कला को धर्म और राजनीति की दासता से मुक्त किया। उन्होंने स्पष्टतः घोषित किया कि कला मूलतः सौंदर्य की साधना में ही निहित रहती है। उसकी सिद्धि आनंद ही है। काव्य-शास्त्र के इतिहास में उनकी यह मान्यता काव्य और कला की स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र था।

(a) अनुकृति सिद्धान्त-अनूकरण सिद्धान्तः-

अरस्तू का सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त अनुकृति सिद्धान्त है। वे अनुकृति को विभिन्न कलाओं का मूलाधार मानते हैं। उनके विचार से काव्य की आत्मा अनुकृति है। जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में केवल लय का उपयोग होता है उसी प्रकार काव्य -कला में अनुकृति केलिए भाषा का उपयोग किया जाता है। चाहे यह भाषा गद्य हो या कि पद्य। सामान्यतः लोग इस अनुकृति के तत्व को भूल कर केवल छंद को ही कविता का प्रमुख लक्षण मान लेते हैं। किन्तु अरस्तूने इस भ्रान्ति का निराकरण किया। वस्तुतः अरस्तू के विचार से साहित्य को भौतिक शास्त्र से पुथक करनेवाला तत्व छन्द नहीं; बल्कि अनुकृति है। भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माध्यम बन सकता है। काव्य में मनुष्य के क्रिया-कलापों की अनुकृति प्रस्तुत होती है। इन मनुष्यों को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है- अच्छे और बुरे। यह विभाजन मुख्यतः नैतिक आचरण पर आधारित है। काव्य के त्रासदी और कॉमदी-इन दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है जबकि त्रासदी का भव्यतर चित्रण करना। अरस्तू ने अनुकृति के क्षेत्र में तीन शैलियों का उल्लेख किया है।

1. कवि कहीं अपने विषय का वर्णन करता है तथा कहीं अपने पात्रों के मुख से कुछ कहलवा देता है। उदाः-होमर का काव्य ।

2. प्रारंभ से लेकर अन्त तक कवि सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे।

3. कवि स्वयं दूर रह कर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करे।

यहाँ प्रथम शैली प्रबन्धात्मक है, दूसरी आत्माभिव्यंजनात्मक और तीसरी नाट्य-शैली है। आरस्तू ने अनुकृति को इतना अधिक महत्व दिया है कि काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति ही है। कविता सामान्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित होता है-(1) मानव की सहज स्वाभाविक अनुकरण की प्रवृत्ति, (2) समंजस्य और लय की प्रवृत्ति। अरस्तू के विचार से अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद भी कम सार्वभौम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है। ज्ञान के अर्जन से प्रत्येक व्यक्ति को प्रबल आनंद प्राप्त होता है । अतः अनुकृति के द्वारा आनंद की प्राप्ति होती है। अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त 'मीमेसिस' शब्द की परवर्ती विद्धानों ने मीमांसा की है।

अरस्तू ने काव्य के क्षेत्र में 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग प्लेटो से अधिक सूक्ष्म अर्थ में किया है। अनुकरण 'नवीनकरण' का भिन्न पर्याय है। समग्र कला अनुकरणात्मक होती है; परन्तु इस अनुकरण की प्रक्रिया में नवीनकरण की स्फूर्ति स्वतःउत्पन्न हो जाती है। अनुकरण का अर्थ अरस्तू के मत में स्पष्टतः 'आदर्श-अंकन' या 'आदर्श चित्रण' नहीं प्रतीत होता है। कवि अनुकरणकारी के रूप में विख्यात हैं। वह अनुकरण करता है- तीन में से एक प्रकार का-वस्तु-समूह जिस प्रकार से था या वर्तमान है; वस्तु-समूह जिस भाव से है, ऐसा कहा जाता है या सोचा जाता है अथवा वस्तु -समूह का जो रूप होना उचित है। अरस्तु कवि और चित्रकार को सृष्टि कार्य के निमित्त एक श्रेणी में रखते हैं। प्रो. बूचर महोदय के अनुसार कला-कृति में मूल का पुनरूत्पादन नहीं होता; अपितु जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है वैसा उत्पादन होता है। प्रो.गिलबर्ट मरे के अनुसार 'अनुकरण में करण या सृजन' विद्यमान है; अतःअनुकरण का अर्थ सृष्टि का विरेधी नहीं है। स्कॉट जेम्स ने अनुकरण को कल्पनात्मक पुननिर्माण का पर्याय वाची माना है। डा.नगेन्द्र ने भी 'मीमेसिस' में नव निर्माण का तत्व देखा है। अरस्तू का कला संबन्धी मत सौंदर्य-शास्त्र पर आधारित था। अतः अनुकरण कल्पनात्मक पुनःसृजन है। प्लेटो का खण्डन करते हुए अरस्तू ने यह साबित कर दिया है कि अनुकरण में आत्मतत्व है, आत्मा भिव्यंजना है और कल्पना तत्व है।

(b) विरेचन सिद्धान्तः- catharsis

अरस्तू का कलासंबन्धी दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है 'विरेचन सिद्धान्त'। विरेचन का अर्थ है विकारो का निष्कासन या शुद्धि। मूलतः इस शब्द का संबन्ध चिकित्सा शास्त्र से है जिसमें रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि को विरेचन कहते हैं। अरस्तू के पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था। किन्तु साहित्य पर उसे लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला और काव्य पर जो आक्षेप लगाया था उसी के खण्डन करते हुए अरस्तू ने अपना सिद्धान्त प्रसारित किया। आपके अनुसार कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है। अतः वे समाज केलिए हानिकारक नहीं है । संगीत के प्रभाव को भी आपने स्वीकार किया त्रासदी के प्रसंग में भी अरस्तू ने लिखा कि करुणा तथा त्रास से उद्रेक के द्वारा मनोविकारों का उचित विरेचन होता है। अतः स्पष्ट है कि अरस्तू कलाओं का लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन मानते थे। परवर्ती विद्धानों ने विरेचन शब्द की व्यख्या करते हुए उसके धर्मपरक, नीति परक और कलापरक अर्थ ढूँढ निकाले। प्रथम के अनुसार विरेचन का अर्थ है बाह्य विकारों की उत्तेजना और उनके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शांति। नीतिपरक अर्थ से तात्पर्य है मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का समन्वय या मन की शांति और परिष्कृति। कलाजन्य आनंद भी विरेचन की परिधि में आता है।

अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद से भी तुलना की जा सकती है। ये दोनों आचार्य काव्यानंद या रसास्वादन के मूल में वासनाओं के रेचन या उनकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। अभिव्यक्ति शब्द अरस्तू के रेचन का समानार्थक माना जा सकता है। इस दृष्टि से दोनों सिद्धान्त एक ही है। किन्तु आपस में थोडा अंतर भी है। अरस्तू महोदय केवल दूषित वासनाओं के ही रेचन की बात कहते हैं; वहाँ अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते हैं। वे सभी प्रकार की वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त मुख्यतः करुणा एवं त्रास पर आधारित है। अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद सभी भावों पर लागू होता है।

टिप्पणीः- त्रासदीः- (Tragedy)

नाटक के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने उसके मुख्यतः दो भेद निर्धारित किये हैं-त्रासदी और कामदी। इन दोनों का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। अरस्तू ने आपने 'पोयटिक्स' का अधिकतम अंश त्रासदी के विवेचन में लगाया है। आपकी मान्यता थी-"Tragedy is essentially an imitation, not of persons, but of action and life, of happiness and misery". कविता के पर्यायवाची शब्द के रूप में ही उन्होंने त्रासादी का व्यवहार किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि त्रासदी के विकास की कहानी क्चयं कविता के विकास की कहानी है। 'पोएटिक्स' के अतिम चार अध्यायों में अरस्तू ने महाकाव्य को विवेच्य विषय बनाया है। लेकिन यह त्रासदी की अपेक्षा कम केन्द्रीभूत और कम आदर्शोन्मूख माना गया है। इस प्रकार अरस्तू के 'पोएटिक्स' का मूख्य विवेच्य विषय त्रासादी अथवा नाटक है। त्रासदी की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा है- "इसमें किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति होती है। इसके माध्यम के रूप में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त अलंकार-भाषा होती है। यह वर्णनात्मक न होकर अभिनयात्मक होती है तथा इसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेग के द्वारा मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है"।

इस परिभाषा में अरस्तू ने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्लेटो के इस मत का निराकरण किया है कि कविता अनुकरण का अनुकरण है और वह विकारों के उत्तेजन के द्वारा नैतिकता के पतन का कारण बनती है। अरस्तू द्वारा उद्भावित कथार्सिस के संबन्ध में विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। प्रो. बूचर के अनुसार ट्राजिक अनुभूतियों के आकलन के द्वारा हमारी आत्मा विस्तार पाती है और उससे आनन्द की प्राप्ति होती है। अरस्तू ने त्रासदी के छःतत्व माने हैं-वस्तु, चरित्र, विचार, दृश्य-विधान, गीत तथा शब्दावली। इनमें प्रधम तीन आंतरिक तत्व हैं और बाकी तीन बाह्य तत्व हैं। वस्तु को अरस्तू ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। अरस्तू ने सिद्ध कर दिया है कि शोकान्त कविता मनुष्य को यथार्थ रूप में अथवा यथार्थ से भद्रतर रूप में उपस्थित करती है। सत् पात्र की सुखोपलब्धि और दुष्पात्र के दण्ड की जो सामान्य मानवीय नीति है उसका परिपालन त्रासदी में आवश्यक नहीं है। यह कामदी का विषय हो सकता है। सामान्य मानवीय नीति का परिपालन त्रासदी में वैकारिक तीव्रता को कम कर देता है। त्रासादी की सबसे बडी सफलता इस विषय में है कि उदात्त चरित्र एवं उच्च पदवाला व्यक्ति अपने किसी प्रमाद के फलस्वरूप विनाश का शिकार बनता रहे। इससे उस पात्र के प्रति सहृदय समाज की सहानुभूति जागृत होती है; मन में भय और करुणा का प्रसार होता है। इसका परिणाम यह है कि हृदय के कलुषित भावों का बहिर्गमन होता है और वह विशुद्धि का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार अरस्त ने त्रासदी को सर्वश्रेष्ठ स्थान दे दिया है।

कामदी (comedy)

कामदी त्रासदी के ठीक विपरीत लक्षणों से युक्त है; पर है उसका पूरक भी। अरस्तू ने अपने 'पोयटिक्स' में अनेक बार कामदी का उल्लेख तो किया, किन्तु उनकी दृष्टि में यह गौरवान्वित कविता नहीं है। उसमें मनुष्य का चित्रण उसकी वास्तविक स्थिति से निम्न स्तर पर किया जाता है। प्लेटो ने कामदी से प्राप्त रस को कुरुचि संपन्न आनंद माना था। अरस्तू की कामदी की परिभाषा इस प्रकार है- "comedy is as we have said, an imitation of characters of a lower type-not however in the full sense of the word bad, ridiculous, being a sub-division of the ugly".

अरस्तू के अनुसार सुख या संतोष काई वैकारिक अनुभव नहीं, वह एक वैचारिक प्रक्रिया है। प्लेटो और अरस्तू दोनों हँसी को राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक मानते थे। इसलिए कामदी को निम्न स्तर का स्थापित करना उनकेलिए स्वाभाविक ही था। प्लेटो ने कहा था कि कामदी के स्टेज पर केवल दासों और किराये पर लिये गये अपरिचितों को भी अभिनेता के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। यही नहीं, युवकों को कामदी देखने का अवसर दिया जाना चाहिए-ऐसा अरस्तू ने भी प्रतिपादित किया है। प्लेटो के अनुसार हंसी मानसिक विद्वेष या जलन से मुक्ति का कारण बनती है। अरस्तू भी इस विचार से सहमत हैं। वे कहते हैं कि खेल, विनोद, उत्सव आदि के अवसरों में मनुष्य क्रोध या विद्वेष की भावना से मुक्त रहता है और उसका स्वभाव अधिक सरल व शांत रहता है। इस दृष्टि से देखने पर कामदी का प्रभाव निश्चित है। उसके प्रभाव से मनुष्य की विद्वेष-भावना मंद पडती है। इसलिए प्लेटो और अरस्तू दोनों के विचार इस दिशा में समान हैं। मन के विद्वेष के निष्कासन की इस प्रक्रिया को कोमिक कथार्सिस कहा जाता है।

निष्कर्ष:- ग्रीक साहित्य की दो प्रमुख धाराओं का विश्लेषण करके अरस्तू ने काव्य के विरुद्ध प्लेटो के तर्कों के सफल निराकरण और सुकरात के विरस प्रश्नों के सम्यक् उत्तर देने में काफी सफलता पायी है। अरस्तू की दृष्टि विश्लेषणात्मक थी। उनकी आलोचना-बुद्धि भी विशलेषणात्मक रही।

3. लोंजाइनस - Longinus- औदात्य - विवेचन, उदात्ततावाद।
(लोंगिनस)

काव्य में अलंकार आदि बाह्य तत्वों की अपेक्षा कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति आदि आंतरिक तत्वों की और अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति अत्यंत प्राचीन काल से ही विद्यमान थी। होरेस ने कृतिकार की प्रेरणा को महत्वपूर्ण मान लिया था। होमर भी इससे अपरिचित न थे। किन्तु आन्तरिक प्रेरणावाले सिद्धान्त का विकसित रूप हमें प्रथमतः'perihupsous' नामक लेख में प्राप्त होता है। इसके रचनाकार लोंजाइनस माने जाते हैं। इनका समय कुछ लोग तृतीय शताब्दी मानते हैं। लेकिन इसके संबन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। आज हमारे सामने 'Perihupsous ' का जो रूप वर्तमान है, उसका आविष्कार 16 वीं शताब्दी में हुआ। सन् 1554 में रोबरटल्लो नामक विद्वान ने इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। अपने लेख में लोंजाइनस ने अलंकारवादियों की आलोचना की है। कासिलियस नामक अलंकारवादी की आलोचना करते हुए लोंजाइनस कहता है कि काव्य में उदात्तता (Sublimity) ही सब से प्रमुख तत्व है। वाग्विलास की तीव्रता सचमुच उदात्तता में ही सफलता पाती है। लोंजाइनस का कथन है कि अलंकारवादी इस तथ्य की तरफ ध्यान नहीं देते। उदात्तता सभी साहित्यिक विधाओं में आवश्यक है। इस विषय में गद्य, पद्य आदि भेदों का कोई अर्थ नहीं।

लोंजाइनस ने अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था। अपने प्रबन्ध के प्रारंभ में ही उन्होंने काव्यास्वादन के वैकारिक संवाद की ओर ध्यान आकृष्ट किया। अलंकार से बोझिल उक्तियों को काव्य मानना उचित नहीं है। सहृदय पर उदात्त वाणी का प्रभाव प्रेरणामूलक नहीं, अपितु संवेदनामूलक अथवा संप्रेषणामूलक है। आपके अनुसार महान प्रतिभा निर्दोषिता से बहुत दूर होती है, क्यों कि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका बनी रहती है। औदात्य में कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रहते हैं। लोंजाइनस ने औदात्य के मूल स्रोतों को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया है-उदात्त भावों के निर्माण की शक्ति, सुशक्त तथा सुप्रचोदित विकार तथा भाव, अलंकार विधान, सुन्दर शब्दावली और उच्च एवं गरिमापूर्ण रचना। प्रथम दो तत्वों में कवि के अंतरंग व्यापार पर ही ज़ोर दिया गया है। कवि की अंतरात्मा ही उदात्त को पाने का उपकरण है। कवि की अन्तर्वृत्तियों को प्रधानता देते हुए लोंजाइनस ने अनुकरण सिद्धान्त को नया रूप दे दिया। अनुकरण होरेस केलिए प्राचीन प्रतिमानों का समान अनुकरण मात्र था। किंतु वही लोंजइनस केलिए प्राचीन आचार्यों के आदर्शों के अनुशीलन से समुत्पन्न, सशक्त आन्तरिक प्रचोदन हो गया। इस प्रकार अपनी एक छोटी सी रचना "On the sublime" -'औदात्य पर विचार' के आधार पर आज भी लोंजाइनस की काफी चर्चा चलती है।

4. लियो ताँलस्ताँय - अनुभूत्यात्मक एकता सिद्धांतः-

साहित्य और कला के क्षेत्र में लियो ताँलस्ताँय के अभिमत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। आपके अनुसार कला मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। केवल सौंदर्य-प्रदर्शन केलिए सर्जित रचनायें कला-क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं। क्यों कि सौंदर्य की कोई वस्तुगत परिभाषा नहीं हो सकती। आज कल सौन्दर्य की जो परिभाषायें प्रचलित हैं वे विषयीगत हैं। ताँलस्तायँ के मत में कला वह है जो सौंदर्य का प्रकाश करे और सौंदर्य वह है जो आनन्द दे। जो कुछ आनन्द देता है उसकी आनन्द-दान-समर्थता रुचि पर निर्भर है। रुचि भिन्न-भिन्न है; इसलिए कला-कृति कुछ विशिष्ट वर्ग को ही आनंद दे सकती है। ताँलस्तायँ के अभिमत में ऐसी रचनायें कला-कृतियाँ नहीं

हैं। 'कला कला केलिए' - वालासिद्धान्त तालस्ताँय केलिए स्वीकार्य नहीं है। अध्यात्मवादी ईश्वर या सौन्दर्य की रहस्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति को 'कला' मानते हैं। ताँलस्ताँय इसे भी गलत समझते हैं। कला बाह्य प्रतीकों द्वारा मानव अनूभूतियों की अभिव्यक्ति भी नहीं है। इस प्रकार ताँलस्ताँय ने कलावाद, सौंदर्यवाद और रहस्यवाद को अकलात्मक घोषित किया।

ताँलस्ताँय के अनुसार कला मनुष्यों के आपसी मेल का साधन है। वह उन्हें एक अनुभूति में बाँधती है। जीवन, व्यक्ति और मानव-समाज के कव्याण की और, प्रगति केलिए अनुभूति का यह बंधन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। ताँलस्तँय ने यह साबित कर दिया है कि काव्य या कला में तीन गुणों का होना आवश्यक है।

(1) काव्य में व्यक्त अनुभूति कवि की वैयक्तिक अनुभूति होनी चाहिए। पाठक के हृदय में उसके प्रभाव का रहस्य इसी में है। जिन महान कवियों की भावधारा में सहृदय अनायास बह जाते हैं उनमें उन्होंने अपने हृदय को ही द्रवीभूत करके बहा दिया है। निजी अनुभूति से तात्पर्य निजी जीवन में घटित वस्तु से नहीं; ऐसी स्थिति में प्रभाव तो बढ जायेगा। पर अन्यों के जीवन में घुस कर कवि द्वारा आकलित अनुभूति भी इसी प्रकार प्रभावशाली हो जाती है।

(2) दूसरा गुण है अनुभूति को स्पष्ट रूप से दुसरों तक पहूँचाना। कला का काम उसे बोधगम्य और अनुभव योग्य बनाना है, जो तर्क या अन्य किसी मार्ग से ग्रहीत नहीं हो सकता । यही कारण है कि स्पष्टता अनुभत्यात्मक एकता में सहायक रहे ।

(3) तीसरा गुण है अभिव्यक्ति की विजय। अभिव्यक्ति कवि के हृदय की माँग है, जिसके बिना वह रह नहीं सकता । यदि अभिव्यक्ति कवि के आकुल अतःकरण की अनिवार्य आवश्यकता है तो वह अन्योन्य अभीप्सित अनूभूति जागृत कर सकेगी; अन्यथा नहीं।

संक्षेप में ताँलस्ताँय के अनुसार अनुभूति की वैयक्तिकता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता और अनिवार्य आन्तरिक प्रेरणा काव्य के प्रमुख कारण हैं। इनमें अंतिम तत्व ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आनिवार्य प्रेरणा होने पर शेष सब बातें स्वयं आ जाती हैं। इस प्रकार काव्य काव्यकार और सहृदय दोनों केलिए आनंददायक सिद्ध होता है। फलतः कवि का स्वान्तःसुख बहुजन सुख और बहुजनहित बन जाता है। यही अनुभूत्यात्मक एकता है।

(5) ऐ.ए.रिचर्डसः-

डा.ऐ.ए.रिचर्डस का स्थान यूरोप के वर्तमान काव्य-शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्य की मनोवैज्ञानिक विवेचना द्वारा पश्चात्य समीक्षा को नूतन आलोक प्रदान करना चाहा। इनकी "Principles of Literary criticism" शीर्षक रचना बहुचर्चित है। रिचर्डस का मत है कि समीक्षा सिद्धान्त का विशेष संबन्ध कला-कृति की प्रेषण-प्रक्रिया से है। समस्त कलायें प्रेषण-प्रक्रिया की उपाधिमात्र हैं। समीक्षक के सामने दो मुख्य प्रश्न हैं-"कृतिकार के साथ संप्रेषण किस कोटि का हो सकता है-अर्थात् कलाकार ने जो कहना चाहा है उसे वह अन्यों तक पहूँचा सका है या नहीं। कलाकार ने जिसका प्रेषण करना चाहा है उसका मूल्य क्या है"। इन प्रश्नों का उत्तर देना समीक्षक का कर्तव्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होता है। अपने अनुभवों और अनुभूतियों को अन्यों तक पहूँचाने और अन्यों के अनुभवों और अनुभूतियों को जानने की रुचि उसकी प्रकृति से संबद्ध है। मानवीय विकास की यात्रा में सप्रेषणात्मक क्रिया का अभ्यस्त होने के कारण मनुष्य के मस्तिष्क का गठन उसी रूप में हुआ है। यह ठीक है कि प्रेषण-क्रिया के पूर्व ही उसका स्वरूप मानस में निर्धारित होता है; किन्तु उसकी अभिव्यक्ति अन्यों से संबद्ध है। इसलिए उसका स्वरूप उसी के अनुसार नियमित होता है।

मानव प्रगति की सर्वाधिक उत्कृष्ट उपलब्धि कला ही है। उसकी सफलता उसके साधनत्व की सफलता है। कलाकार संप्रेषक है; उसकी कृति का समर्पण पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संप्रेषण अत्यन्त कठिन कार्य है। भावों और विचारों का समर्पण वस्तुओं के समर्पण से भिन्न है। कलागत समर्पण वहीं संभव होता है जहाँ एक मस्तिष्क अपने परिवेश पर ऐसा प्रभाव डाले कि दूसरा मस्तिष्क भी उससे प्रभावित हो उठे। दूसरे मस्तिष्क में वही अनुभूत्यात्मक स्थिति उत्पन्न हो, जो पहले मस्तिष्क में उतपन्न हुई थी। कलाकार को संप्रेषण केलिए कई गुणों की आवश्यकता है। साधारण व्यक्ति और कलाकार का सबसे स्पष्ट अंतर अनुभव का विस्तार मन की कोमलता व विभिन्न तत्वों से संबन्ध साथापित करने की स्वतंत्रता में निहित है।

वस्तु अथवा स्थिति के पूर्ण बोध केलिए कलाकार में अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति होनी चाहिए। रिचर्डस के अनुसार कल्पना मन का कोई गूढ़ या रहस्यपूर्ण व्यापार नहीं है। कुछ आवेगों के सक्रिय हो जाने पर अन्य आवेग भी बाह्य कारणों के अभाव में भी जागृत होते हैं। इन्हीं आवेगों को रिचर्डस कल्पना कहते हैं। कल्पना का आधार भूत और वर्तमान दोनों होते हैं। समालोचक के संदर्भ में रिचर्डस का विचार है कि कोई भी समालोचक तभी किसी ग्रंथ की आलोचना कर सकता है जब वह किसी ग्रंथ को भली-भाँति समझ ले। उचित अध्ययन के द्वारा ही समीक्षक कृति को समझने में सफल होता है। बिना गहन अध्ययन किये आलोचना का उपक्रम करना ठीक नहीं है। अध्ययन केलिए कठिन प्रयत्न और शिक्षण की आवश्यकता है। रिचर्डस के अनुसार जिस प्रकार चिकित्सकों का कार्य शरीर के स्वास्थ्य से है संबद्ध हो उसी प्रकार समीक्षक का संबन्ध मन के स्वास्थ्य से है। जनता के तन और मन दोनों के स्वास्थ्य का महत्व है। समीक्षक को यह सोचना चाहिए कि किस कृति से जनता के मन को स्वास्थ्य प्राप्त होगा और किसके द्वारा उसको क्षति होगी। अतएव समीक्षक को साहित्य के मूल्यों का सम्यक बोध होना चाहिए। उसके आधार पर की गयी समीक्षा ही उत्तम समीक्षा है। अन्य मानवीय क्रियाओं से जो मूल्य उपयुक्त है वही साहित्य के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण है। इसलिए जीवन और साहित्य का मूल्य संबन्धी एक सामान्य मान संभव है। सामान्य मूल्य के मान का विश्लेषण करते हुए रिचर्डस लिखते हैं कि मनुष्य के आवेगों के दो रूप होते हैं-एक है वासना या तृष्णा, दूसरा है वितृष्णा। तात्पर्य है राग और विराग। जिन वस्तूओं से हमारा रागात्मक संबन्ध है हम उनके निकट रहना चाहते है। परन्तु जिनसे हमारी वितृष्णा है उनसे दूर होना चाहते है। प्रथम प्रकार के आवेग प्रवृत्ति मूलक है और दूसरे प्रकार के निवृत्तिमूलक भी। जो हमारी तृष्णा अथवा प्रथम आवेग की संतुष्टि कर सके, वह मूल्यवान है। तृष्णायें अधिकांशतः अचेतन मन की क्रियायें होती हैं। इसलिए काव्य की विवेचना तृष्णाओं की चर्चा से शुरू होनी चाहिए, न कि अनुभूति से। क्यों कि अनुभूति हमारी वही तृष्णा है जो चेतन मन में उत्पन्न होती है। चेतन मन मात्र की विवेचना से कृति की विवेचना सार्थक नहीं होगी । क्योंकि चेतन मन के व्यापारों की अपेक्षा मानव-जीवन में अचेतन मनोव्यापारों की प्रमुखता विर्विवाद है। इस प्रकार साहित्यकार में अपने को व्यवस्थित करने की उत्कृष्ट शक्ति होनी चाहिए। निरपेक्ष निरीक्षण का भी समीक्षा में वास्तविक महत्व है। यों काव्य का मूल्य और समीक्षक के धर्मों के प्रति रिचर्डस ने गंभीर चिंतन-मनन प्रस्तुत किया है।

(6) टी. एस. इलियट

इलियट वर्तमान अंग्रेज़ी साहित्य के युग प्रवर्तक कवि और विचारक हैं। काव्य की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करने के साथ ही उन्होंने काव्य-चेतना का गंभीर विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य के रसात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनों पक्षों का ही समान महत्व है। वर्तमान

युग के सर्वश्रेष्ट कवि होने के साथ ही आलोचक के रूप में भी इलियट का अपना विशेष गौरव है। साहित्य के महत्व के विषय में उनके विचार अत्यन्त प्रबल हैं। साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में इलियट ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। सर्वग्रासी वैयक्तिकता का तिरस्कार करते हुए उन्होंने कला के निर्वैयक्तिक, सृजनात्मक रूप की प्रतिष्ठा की। कला के क्षेत्र में साहित्येतर ज्ञान -विज्ञान के वर्तमान दुष्प्रभाव का अवरोध और कला की शुद्धता की पुनः स्थापना इलियट की महती देन है।

इलियट पर हयूम का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हयूम ने काव्य के विषय को कोई महत्व न दिया है। महत्व इस बात पर है कि काव्य में वास्तविक तल्लीनता या आनंद है या नहीं। कवि का कार्य वैयक्तिक अनुभूति अभिव्यक्त करना नहीं है, अपनी देखी वस्तु या विचार का मार्मिक बिंब प्रस्तुत कर देना है। इलियट ने कविता को व्यक्तित्व से पलायन माना है। उनपर एज़रा पाउण्ड का भी स्पष्ट प्रभाव है। पाउण्ड के अनुसार कविता को गद्य के समान ही लिखना चाहिए। फ्रान्स के 'प्रतीकवाद' का भी प्रभाव इलियट पर पडा है।

इलियट के साहित्यिक सिद्धान्तः-

हयूम के समान इलियट ने भी स्वच्छन्दतावाद की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति या आत्म निष्ठ कविता के प्रति विद्रोह का स्वर उठाया। प्रारंभ में साहित्य के नैतिक मूल्यों की तरफ उन्होंने ध्यान नहीं दिया था। पर धीरे-धीरे वे उस तरफ भी ध्यान देने लगे। इलियट के अनुसार साहित्य की महानता केवल साहित्यिक मानों के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती । साहित्य समीक्षा को निश्चित, नैतिक और धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से पूर्ण करना चाहिए। उसके मानों को निर्वैयक्तिक रूपों में स्वीकार करके साहित्य का महत्व निरूपित करना ही वांछनीय है। साहित्य का प्रभाव व्यक्ति के हृदय पर पडता है। इसलिए उसके नैतिक मूल्य पर ध्यान देना परम आवश्यक है। हयूम के अनुसहण में इलियट ने भी आदिम मानव की अपूर्णता और प्राकृत जीवन के ऊपर अति प्राकृत सत्ता का प्रभाव मान लिया है।

साहित्य-समीक्षा के संबन्ध में भी इलियट के विचार ध्यान देने योग्य हैं। वे ऐसे व्यक्ति को साहित्य समीक्षक मानते हैं जिसमें प्रचुर संवेदन शक्ति, व्यापक अध्ययन तथा विवेक-शीलता हो। विवेक के बिना समालोचक तटस्थ दृष्टि नहीं अपना सकेगा। समालोचक को स्वतंत्र-चेता रहना चाहिए; अन्यथा वह तटस्थ निर्णय नहीं कर सकेगा। भारत में समालोचक को सहृदय होना परम आवश्यक माना गया है और इलियट भी यह आवश्यक मानते हैं। मनोविज्ञान, सौंदर्य-शास्त्र, दर्शन और समाज-शास्त्र आदि का वर्तमान समीक्षा में उपयोग किया जाता है। इलियट इसे भी वांछनीय मानते हैं। उनकी राय में कवि का संबन्ध केवल कविता से ही नहीं है, अन्य जगत से भी उसका संबन्ध है। इस संबन्ध के बिना उसकी कविता शून्य मात्र रहेगी। इसी प्रकार समीक्षक में भी साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों के प्रति भी रुचि होनी चाहिए, उसे पूर्ण मानव बनना चाहिए। उसे जीवन का अनुभव और ज्ञान होना चाहिए। इसी के आधार पर आलोचक काव्य में समस्त मानवता के सामान्य भावों का निपुणता के साथ उदाघाटन कर सकता है। इलियट के अनुसार काव्य के दो पक्ष हैं-वस्तु पक्ष और भाव पक्ष। वस्तु में भावव्याप्त रहता है। आलोचक वस्तु में निहित भाव के पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। तभी पाठक काव्य का रस ग्रहण कर सकता है। साथ ही इलियट यह भी कहते हैं कि अधिकांश महान कृतियाँ अनुभूति की वस्तु होती हैं; उन्हें समझना असंभव है। इसलिए आलोचना भी वस्तु निष्ठतथा आत्मनिष्ठ दो प्रकार की हो सकती है। इलियट प्रभाववादी आलोचना को स्वस्थ आलोचना नहीं मानते। इलियट ने 19 वीं सदी के आत्मा

निष्ठ साहित्य के विरुद्ध विद्रोह प्रकट किया है। उनके अनुसार वस्तुनिष्ठ साहित्य ही सर्वक्षेष्ठ साहित्य है। उन्होंने कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया। कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता; व्यक्तित्व उसका विशिष्ट माध्यम मात्र है। अपनी संपूर्ण विवेचना में इलियट ने कविता के स्वतंत्र जीवन का समर्थन किया है।

(7) क्रोचे-अभिव्यंजनावादः-

क्रोचे मूलतः आत्मावादी दार्शनिक थे। उन्होंने आधुनिक युग के भौतिकवाद के विरुद्ध अपने ढंग से आत्मा की अन्तः सत्ता की प्रतिष्ठा की है। काव्य-शास्त्र उनका विषय नहीं था। उन्होंने तो आत्मा की एक विशिष्ट क्रिया के रूप में सौंदर्य के सिद्धान्त की विवेचना की है। साहित्य शास्त्र पर क्रोचे का चिर्चित ग्रंथ है-"Acsthetics as science of Expression". क्रोचे का उल्लेखनीय सिद्धान्त है "अभिव्यंजनावाद"। इसका मूल स्रोत स्वच्छन्दतावाद की वह मूल प्रवृत्ति थी जिसने प्रारंभ में तो नम्र स्वर में और बाद में उग्र स्वर में पुराने सिद्धान्तों का विरोध किया। साहित्य और कला पर नैतिकता के अति दबाब के विरुद्ध विद्रोह करते हुए कई आधुनिक साहित्यकारों ने उद्घोषित किया "कला केवल कला केलिए है, उसका कोई बाह्य प्रयोजन नहीं। वे निरंकुश होना चाहते थे। कलाकार का काम वस्तु-स्थिति का पुनः प्रस्तुतीकरण नहीं है; कलाकार को अपनी व्यक्तिगत भावना की अभिव्यक्ति करनी चाहिए। यही सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद कहा जाता है।

क्रोचे के अनुसार काव्य-विषय या काव्य-वस्तु का बाह्य जगत से चयन करना असंभव है। यह कहना गलत है कि अमुक वस्तु काव्य या कला केलिए अनुचित है। कवि या कलाकार अपने चारों ओर के संसार से जो संवेदनाएँ ग्रहण करते हैं उन्हें अभिव्यंजना करने में स्वतंत्र हैं। अभिव्यंजना मुक्त प्रेरणा है। वह कवि की इच्छा पर निर्भर नहीं। कवि को भान होता है कि उसके मानस में वस्तु की अभिव्यंजना हो रही है; किन्तु न तो वह उसकी इच्छा कर सकता है और न वह उसे रोक भी सकता है। यदि वह अपनी प्रेरण के विपरीत संवतंत्र चुनाव करने लगता है तो उसकी कवित्व - शक्ति उसे सावधान करने लगती है। क्रोचे का तर्क है कि विषय-वस्तु के चयन करने का अर्थ है 'इच्छा' करना - कुछ को स्वीकार करना और कुछ को न स्वीकार करना। जिसे हम स्वीकार करते है उसकी अभिव्यंजना पहले हृदय में होनी चाहिए। चयन करना आत्मा की व्यावहारिक क्रिया का कार्य है। लेकिन अभिव्यंजना आत्मा की प्रातिभ क्रिया का कार्य है। प्रातिभ ज्ञान का चयन असंभव है। काव्य प्रातिभ ज्ञान है, इसलिए उसका भी चयन संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि न तो संवेदनाओं का चयन संभव है और न अभिव्यंजना का। इसलिए वस्तु के चुनाव का सिद्धान्त गलत है।

क्रोचे यह भी कहते थे कि जब तक प्रकृति में कुरूपता तथा क्षुद्रता वर्तमान हैं तब तक उसका प्रभाव कलाकार के हृदय पर पडता है। उसकी अभिव्यंजना भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रही थी, क्यों कि उसका संबन्ध वस्तु-जगत से भी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि क्षुद्र कला का भी औचित्य सिद्ध हो सकता है। क्रोचे कहते हैं कि वस्तु और रूप का संबन्ध काव्य-शास्त्र का सर्वाधिक विवादपूर्ण विषय है। क्रोचे यह भी विश्वास रखते हैं कि उच्च कोटि की काव्य कृतियाँ हमारी कल्पना और तद्वारा भावों को उत्तेजित करके हमें समाधि-दशा में पहूँचाती है और सामान्य एवं शास्वत तक ले जाती है। भारतीय रसवाद का भी केन्द्रीय मत यही है। क्रोचे के अनुसार आत्मा की दो क्रियायें होती हैं-सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और व्यावहारिक के ज़रिए जीवन में व्यवहार का। सैद्धान्तिक क्रिया के दो रूप होते हैं-

प्रातिभक्रिया और बौद्धिक क्रिया। व्यावहारिक क्रिया के भी दो भेद हैं- उपयोगी क्रिया और नैतिक क्रिया। प्रातिभ क्रिया को क्रोचे स्वतंत्र क्रिया मानते हैं। बौद्धिक क्रिया में प्रातिभ क्रिया का भी योग रहता है। व्यावहारिक क्रियायें सैद्धान्तिक या ज्ञानात्मक क्रियाओं से भिन्न तो होती हैं परन्तु उन पर आधारित भी होती हैं।

आचार्य रामचन्द्रशुक्लजी का विचार है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त का पश्चिमी रूपान्तर है। फलस्वरूप क्रोचे को कलावादी मान कर कुन्तक के साथ उनकी तुलना की जाने लगी है। वास्तव में शुक्लजी क्रोचे की इस उक्ति से विक्षुब्ध थे कि काव्य में वस्तु कुछ नहीं है; केवल रूप ही सबकुछ होता है। शुक्लजी ने संभवतःअभिव्यंजनावादियों द्वारा प्रस्तुत क्रोचे को भी अपने सम्मुख रखा। इसी कारण शुक्लजीने उनका विरोध किया हो। क्रोचे भी कोरे शिल्प-विधान के विरोधी थे।

(8) टिप्पणियाँः-

(1) विलियम वर्ड्सवर्थ की काव्य संबन्धी मान्यताएँः-

वर्ड्सवर्थ अंग्रेज़ी साहित्य के युगप्रवर्तक कवि और विचारक माने जाते हैं। उन्होंने बीस साल की उम्र में फ्रांस, इटली और आल्पस पर्वत की पैदल यात्रा की। आल्पस की प्राकृतिक सुषमा ने उनकी सौंदर्य-भावना को उद्दीप्त किया और फ्रान्स की क्रांति ने विचार को भी। कवि कॉलरिज से उनका आत्मीय संबन्ध रहा। 'लिरिकल बैलर्डस' के नाम से दोनों की कविताओं का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। वर्डसवर्थ ने आलोचकों के आक्षेपों का उत्तर देते हुए लिखा "कवि की संवेदन -शीलता और कोमलता साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक होती है। मानव और मानवेतर प्रकृति से उसे अधिक ज्ञान होता है। वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं से स्वयं तो आहलादित होता ही है; दूसरों को भी आहलादित करने में सक्षम होता है। उसकी कल्पना इतनी सजग होती है कि प्रत्यक्ष से ही नहीं; बल्कि परोक्ष से भी वह प्रत्यक्षवत् प्रभावित होता है। निरंतर अभ्यास से उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह अपने विचारों और अनुभवों को किसी तात्कालिक बाह्य उत्तेजना के बिना भी अपने भीतर उत्पन्न कर सकता है, साथ ही अभिव्यक्ति भी कर सकता है"।

काव्य संबन्धी उनकी मान्यतायें काबिले तारीफ हैं। काव्य प्रबल भावों का अनायास उच्छलन या उत्प्रवाह है। प्रशांत मनोदशा में उन भावों का अनुस्मरण होता है। भावदीप्त मनोदशा में रचना का प्रायः आरंभ होता है और ऐसी ही मनोदशा में उसका क्रम चलता रहता है। भाव चाहे जिन कारणों से उत्पन्न हों, जिस प्रकार के हों और जिस मात्रा में हो वे नानाविध आनन्दों से संवलित होते हैं और उनका वर्णन करने में मन आनंदानुभूति की स्थिति में रहता है। वड्सवर्थ के अनुसार काव्य में ग्रामीणों की दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग होना चाहिए। गद्य और काव्य की भाषा में कोई तात्विक भेद नहीं है। प्राचीन कवियों का भावोद्बोध जितना सहज था, उनकी भाषा उतनी ही सरल थी। भाषा में कृत्रिमता और आडंबर बाद के कवियों की देन हे। वड्सवर्थ काव्य की सोद्देश्यता के पक्षधर हैं। काव्य मनुष्य के मानसिक नैतिक स्वास्थ्य तथा सुख का साधन है। काव्य मनुष्य को संसार की वास्तविकता और सत्य की और उन्मुख करता है। प्रत्येक महान कवि शिक्षक होता है। वर्डसवर्थ की विचार धारायें आज भी समादृत हैं।

(2) कॉलरिज की काव्य - समीक्षा संबन्धी मान्यतायेः-

स्वच्छंदतावादी आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में वर्डसवर्थ और कॉलरिज का युग्म प्रसिद्ध है। ये कवि थे, साथ-साथ बहुज्ञ विद्वान भी। दर्शन और मनोविज्ञान उनके प्रिय विषय थे। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' बहुत प्रसिद्ध है। कॉलरिज के शब्दों में आलोचना का चरम उद्देश्य दूसरों की रचनाओं के मूल्यांकन के नियम निर्धारण से कहीं अधिक लेखन के सिद्धान्तों का व्यवस्थापन है। आलोचक को काव्यात्मक अनुभूति को यथावत् हृदयंगम करने की क्षमता होनी चाहिए, तभी वह सहानुभूतिपूर्वक उसका सम्यक् विशलेषण कर सकेगा। जैववादी सिद्धान्त कॉलरिज की काव्य संबन्धी धारणा का एक प्रमुख आधार है। इसमें खंड और योग के बदले वस्तुओं का अंगागीभाव संबन्ध होता है। उनके अनुसार काव्य की या कलामात्र की उत्पत्ति भाव की तीव्रता से होती है; किन्तु भाव अकेले ही पर्याप्त नहीं है, वह संवेदनाओं के साथ मिल कर काम करता है। संवेदना का अर्थ है अनुभूतियों को ग्राहण करने की क्षमता। इस प्रकार अनुभूति, संवेदना और भाव का त्रैट कला का जनक है। भाव की उद्दीप्ति के अनिर्वचनीय कारण को अन्तः प्रेरणा की संज्ञा दी गयी है। कला के द्वारा संप्रेष्य आनन्द या आहलाद आत्मिक अनुभूति है। कॉलरिज कला के अर्न्तनिहित मूल्यों के समर्थक हैं। कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि उसका तात्कलिक प्रयोजन आनंद है। भाव के उद्वेलन को नियंत्रण में रखने केलिए सहज प्रयास द्वारा जो मानसिक संतुलन आता है उसी से छन्द की उत्पत्ति होती है। काव्य की सर्जन-प्रक्रिया का विचार काव्य के गुण-दोष विवेचन से अधिक उपयोगी और आवश्यक है। कॉलरिज की आलोचना का प्रधान बिंदु तो भाव और अनुभूति है, पर उसकी परिणति होती है बोध में। अंग्रेज़ी आलोचना को दृढ़ दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करनेवाले प्रथम व्यक्ति हैं कॉलरिज। आलोचना में मनोविज्ञान का प्रयोग कर उन्होंने उसकी स्वायत्तता सथापित की। उनके काव्य-सिद्धान्त का अन्यत्म महत्व यह है कि उन्होंने कवि, कवि-शक्ति, काव्य तथा काव्य-प्रतिभा में समन्वय की पद्धति प्रस्तुत की।

(3) मैथ्यू आर्नल्डः-

आधुनिक अंग्रेज़ी आलोचना का आरंभ मैथ्यू आर्नल्ड से होता है। ये स्वयं कवि थे और ऑक्सफोर्ड में अंग्रेज़ी के प्रोफसर नियुक्त हुए तो इन्हें आलेचना संबन्धी अपने विचारों को प्रबुद्ध वर्ग के सामने प्रस्तुत करने का अवसर मिला। इन्हें अपने विचारों के प्रसार की अनुकूल भूमि भी प्राप्त हुई। उस समय औद्यागिक क्रांति के कारण विज्ञान ने एकसाथ काव्य, धर्म और संस्कृति के मूलोच्छेद का उपक्रम किया । आर्नल्ड का कहना था कि काव्य और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। 'कल्चर एण्ड एनार्की ' नामक विस्तृत लेख में उन्होंने कहा है कि संस्कृति पूर्णता का ही दूसरा नाम है और काव्य संस्कृति का अन्यतम साधन है। उन्होंने काव्य में रोमांटिक सिद्धान्तों का खंडन किया और प्राचीन क्लासिकल सिद्धान्तों की पुनःस्थापना पर बल दिया। आर्नल्ड की धारणा थी कि महान काव्य केलिए उसकी विषय-वस्तु उदात्त होनी चाहिए और शैली भव्य। आपकी राय में कविता जीवन की व्याख्या है। काव्य-रचना में आर्नल्ड ने चार बातों पर ध्यान रखने का आग्रह किया-

1.काव्य की विषय-वस्तु महत्वपूर्ण होनी चाहिए जिसमें गहन और तीव्र भावों की संभावनायें हों।

2. रचना-प्रक्रिया के क्रम में कवि को संरचनात्मक अन्विति, अनुपात तथा सुसंगति या सामंजस्य पर ध्यान रखना चाहिए।

3. वर्णन में भव्य शैली का प्रयोग आवश्यक है।

4. काव्य के प्रयोजन के रूप में आर्नल्ड ने आनन्द के साथ नैतिक उन्नयन को हमेशा आगे रखा।

अर्नल्ड ने समस्त यूरोप को एक बौद्धिक संघ के रूप में देखने का प्रस्ताव रखा है। यह उस विशाल वैचारिक परिप्रेक्ष्य को आलोकित करता है जिसमें देश-काल की संकीर्णता का कहीं स्थान नहीं है। स्काट जैम्स ने आर्नल्ड की सराहना करते हुए लिखा है-"सच्चाई से यह कहा जा सकता है कि उसने जीवन-यंत्र के दांतों से अपने को मुक्त किया; उसने ज्ञान केलिए ज्ञान का अनुवर्तन किया; उसने माधुर्य और आलोक केलिए विचारों में अभिरुचि ली;उसने उत्तम विचारों के प्रसार जीवन में विनियोग केलिए निरंतर प्रयास किया; उसने जो नूतन ज्ञान प्राप्त किया था, उसे संसार में संचारित किया। विश्व के विचार-प्रवाह के केन्द्र में सदा बने रहने की उन्होंने चेष्टा की"। पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में मैथ्यू आर्नल्ड का योगदान प्रातः स्मरणीय है।

(4) क्वसिज़्म-मर्यादावाद, अभिजातवाद, शास्त्रवाद।

'क्लासिक' शब्द नवोत्थान युग से प्रचलन में आया। यह शब्द आज कई अर्थों में प्रयुक्त है- प्राचीन ग्रीस और रोम की भाषा, पुराण, दर्शन, कला, शिल्प आदि सभी के वर्णन केलिए; ग्रीक और रोमन कलात्मक आदर्श के अनुकरण में रचित किसी भी कला-कृति केलिए क्लासिकल अथवा नियोक्लासिकल शब्द का प्रयोग होता है। सचमुच क्लासिकल आदर्श मन की एक विशेष स्थिति का द्योतक है और अतएव उनकी व्याख्या बहुत से आलोचक मनोविज्ञान के आधार पर ही संभव समझते हैं। फलतः क्लासिकल आदर्श के संबन्ध में यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है- "सीमा के बिना पूर्णता की संभावना होगी नहीं"। पूर्णता से तात्पर्य ऐसी स्थिति से है जिसमें से कुछ अलग करना या जिसमें कुछ जोड देना संभव न हो। न्यून या अधिक होने पर पूर्णता छिन्न होती है। गोल या वृत्त पूर्णता का एक प्रतीक है। वृत्त में से कुछ हटाने अथवा उसमें कुछ ज़्यादा लगाने से वृत्त फिर नहीं रहेगा। इसलिए यदि किसी कला में पूर्णता अपेक्षित है तो व्यक्ति की निजी धारणा के बाहर एक ऐसी सीमा का संकल्प करना पडता है जिसका खण्डन नहीं हो। यही ग्रीक कद्वासिकल कला की प्रवृत्ति है। केवल ग्रीक की ही नहीं, अन्य क्लासिकल साहित्य की भी यही स्थिति है।

क्लासिज़्म सचमुच ग्रीक दर्शन, साहित्य और कला के पुनराविष्कार के परिणाम स्वरूप उद्दीप्त हुआ है। होमर ने काव्य केलिए एक प्रतिमान स्थापित किया था। वर्जिलने होमर का अनुकरण किया। इसलिए शेष सब कवियों को उन्हीं का अनुकरण करना पडा। यही नहीं, ग्रीक ट्राजडी के अनुकरण पर सभी नाटकों में संकलनत्रय का पूर्णतया निर्वाह होना चाहिए । क्लासिक आदर्श है- विशेष की अपेक्षा सामान्य पर बल देना। अरस्तू लिखते हैं कि कवि का कर्तव्य वस्तुओं का असली रूप में प्रस्तुतीकरण करना नहीं है। लेकिन उस रूप में प्रस्तुत करना है जिससे संभावना बनी रहे। यही कारण है कि कविता इतिहास से भिन्न कोटि की रहती है। इतिहास में जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह विशिष्ट होता है, जब कि साहित्य में प्रतिपादित वस्तु सामान्य है। क्लासिज़्म का और एक लक्षण है 'आदर्शीकरण'। इसका संबन्ध दृश्य कलाओं से अधिक है। ग्रीक मूर्ति-कला और नियो क्लासिकल कला में मनुष्य को पूर्णतया चित्रित करने का प्रयास हुआ करता था। वीनस की मूर्ति किसी मानव मूर्ति का अनुकरण नहीं है। उसमें प्रकृति की तुटियों के परिहार और पूर्णत्व के आदर्श की स्थापना का प्रयास है। उनके साहित्य की यही स्थिति रही। क्लासिज़्म के क्षेत्र में नवीनता लाने का प्रयास है नियो क्लासिज़्म । पाश्चात्य काव्य-जगत में इस सिद्धांत का भी काफी बोलबाला रहा है।

(5) रोमान्टिसिज़्म - स्वच्छंदतावादः-

ज्ञात से अज्ञात की ओर, ससीम से असीम की तरफ, पृथ्वी से स्वर्ग की तरफ अन्मुखता ही रोमान्टिक प्रवृत्ति का मूल मंत्र है। रोमान्टिक कलाकार मूलतः रहस्यों का उदाघाटन करनेवाला है। उसकी दृष्टि अतीन्द्रिय की तरफ लगी रहती है। रोमान्टिक केलिए मर्यादा की भावना कभी स्वीकार्य नहीं है। वह हमेशा रहस्य के अनावरण की तरफ प्रवृत्त रहता है। यह रहस्य रोमान्टिक प्रेम का मूल तत्व है। फ्रांस से ही सारे यूरोप की कविता और कहानी पर रोमान्टिक प्रेम का प्रभाव व्याप्त हो गया। यह प्रेम असीम या पार्यन्तिक प्रेम है। अपने ही बल पर अपनी ही संगति पर वह आधारित है। युक्ति के नियंत्रन का इस पर कोई प्रभाव नहीं। इसकेलिए प्रेम ही जीवन का साफल्य और चरम लक्ष्य है। लौकिक सीमा को लाँघ कर स्वप्निल लोक में विहार करने की प्रवृत्ति उसकी विशेषता है। इसीलिए रोमांटिक प्रवृत्ति कभी ज्ञात या प्राप्त वस्तु से तृप्ति पाना नहीं चाहती।

नियमों को तोडना रोमांटिक आन्दोलन का मंत्राक्षर है। साहित्य नाना नियमों से इतना जकडा गया है कि उसके विरुद्ध कल्पना की क्रांति अनिवार्य हो गयी। सारे नियमों को व्यक्ति की स्वच्छन्दता तोड डालना चाहती है। यही कारण है कि व्यक्ति की स्वच्छन्द प्रवृत्ति में बाधक होनेवाले सभी तत्वों का उन्मूलन कलाकार का धर्म मान लिया गया है। फलतः रोमांटिक कला केलिए कुछ तत्वों की अनिवार्य आवश्यकता हो गयी। उनमें से प्रमुख है 'कल्पना की सार्वभौमता'। बिना कल्पना के कला का संकल्प असंभव है। शैली जैसे कवियों के अनुसार कल्पना प्रसूत कविता सभ्यता, नैतिकता और धर्म का भी मूल स्वरूप है। वह आंतरिक प्रकाश है जिससे हम टोस पदार्थों के बीच से सूक्ष्म सत्य का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार कविता युक्ति का भी अतिक्रमण करती है। साहित्य के इतिहास में सर्वातिशायिनी शक्ति के रूप में कल्पना की यह स्वीकृति एकदम अभूतपूर्व एवं क्रान्तिकारी घटना है।

रोमान्टिसिज़्म की दूसरी सामान्य विशेषता हैं व्यक्तिवाद। समाज के कठोर नियंत्रणों तथा विधि-विधानों के प्रति विरोध उसमें मुखरित है। व्यक्ति की स्वतंत्रता उसका प्राणभूत तत्व है। धीरे-धीरे व्यक्ति-स्वतंत्रता को दार्शनिक समर्थन प्राप्त हो गया। इस दिशा में रूसो जैसे क्रांतिकारियों और उनके शिष्यों के विचारों का योगदान कम नहीं है। उन्होंने युक्ति के माध्यम से मानवता के महत्व और पूर्णता का प्रचार किया। उन्होंने स्थापित करना चाहा कि व्यक्ति और समाज की समस्याओं का मूल कारण बाह्य प्रतिबन्ध है। उसके निवारण से मानव समाज की सारी समस्यायें स्वयं समाधान पाएँगी। अंतश्चोदन सिद्धान्त से रोमान्टिसिज़्म में आत्यान्तिक आत्मा-परता की गुंजाइश हुई। क्लासिक मनोवृत्ति केलिए सत्य बाह्य अन्वेषण का विषय है जबकि रोमांटिक केलिए आन्तरिक। व्यक्तिवाद और आत्मवाद के परिणाम स्वरूप स्वच्छन्दतावाद में भी विशेष की अपेक्षा सामान्य पर आस्था स्थिर हो गयी। सभी स्वच्छंदतावादी विश्वास करते हैं कि मौलिक एवं सामान्य मानवीय नियम अवश्य वर्तमान है और उनकी उपलब्धि व्यक्ति के माध्यम से ही हो सकती है। रोमांन्टिक कवि प्रकृति-प्रेमी हैं। रोमान्टिक कलाकारों में वैकारिक भावना बहुत ही तीव्र है। रोमान्टिक कवियों की भाव-प्रवणता जब केवल फैशन बन गयी तो रोमान्टिसिज़्म का पतन शुरू हुआ। वर्षों बाद रोमान्टिसिज़्म की पुनःप्रतिष्ठा ' नियो रोमान्टिसिज़्म' के नाम से हुई।

(6) प्रतीकवादः-

साहित्य में प्रतीकवाद का प्रारंभ उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस में हुआ। इस शब्द के वर्तमान अर्थ में प्रथम प्रयोक्ता हैं जीन मोरीस। आदर्शावादियों के समान प्रतीकवादी भी सौंदर्य के उपासक हैं। रहस्यवादियों के समान वे भी प्रतीयमान तथ्य के परे एक पार्यन्तिक सत्य को ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ बोथलयर की प्रसिद्द सोणट "करस्पोन्टेन्स" को प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रतीकवाद को कविता में यथार्थवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। रिम्बौड तथा मलार्मे आदि फ्रान्स के प्रसिद्ध प्रतीकवादी हैं। इनके पीछे आनेवाले प्रतीकवादी कवियों ने वस्तु तथा व्यक्ति के बीच के विभेद को दूर करते हुए प्रतीकवाद को नवीनता प्रदान की। वे मनुष्य के आभ्यंतर तथा बाह्य जगत में भी भेद मानने को तैयार नहीं थे। आदर्शवादी कलाकार एक विशेष प्रकार का दार्शनिक सिद्धान्त अपनाते हैं। कवि से अभिव्यक्त होनेवाला काव्य-जगत आदर्शवादियों की तरह प्रतीकवादियों केलिए भी वास्तविक है।

रिम्बौड ने इन्द्रियों के माध्यम से सत्य के आकलन का सिद्धान्त खडा कर दिया। प्रतीकवादी प्रतीकों के माध्यम से इसलिए सत्य का साक्षात्कार संभव मानते हैं। इन्द्रिय ग्राह्य सत्य का संप्रेषण कला में नेत्र, श्रवण, गंध, स्वप्न आदि के ज्ञान के माध्यम से कराया जाता है। क्लासिक तथा रोमांटिक कलाकारों की अपेक्षा प्रतीकवादी कलाकार कलात्मक अनुभूति को अधिक अगाध बोधवत्ता पर पुनः स्थापित करना चाहते हैं। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रतीकवादी सौंदर्यशास्त्र का फ्रायड के उपबोध चित्त के साथ कोई वास्तविक संबन्ध नहीं है। नव स्वच्छंदतावादी प्रतीकवादियों के समान आत्मनिष्ठ हैं और आदर्श सौंदर्य से उनकी भी आस्था है। प्रतीकवादी का अभिव्यंजनावाद से घनिष्ठ संबन्ध और अभिव्यंजनावाद को प्रतीकवाद का विकसित रूप भी कहा जा सकता है। प्रतीकवादी कविता के साथ संगीत का सामंजस्य घटित करना चाहते हैं। इस कारण उन्होंने बहुत से छन्दों तथा लयों का आविष्कार किया है। गद्य को भी वे काव्यमय बना लेते हैं। उपमा की अपेक्षा प्रतीकवादी कलाकार अपने काव्य में प्रतीकों का अधिक उपयोग करना उचित समझते हैं। इस केलिए सामान्य जीवन में सुपरिचित प्रतीकों का वे काव्य में प्रभूत मात्रा में प्रयोग करने लगे। लेकिन ज्यों -ज्यों अपरिचित प्रतीकों का अवश्यकता से अधिक मात्रा में प्रयोग शुरू हुआ त्यों त्यों उसमें अस्पष्टता व्याप्त होने लगी। फलस्वरूप प्रतीकवादी कविता बहुधा पाठकों केलिए कठिन तथा दुरूह प्रतीत होने लगी। अधिकतर प्रतीकवादी कविता प्रतीकों के चयन में वस्तु-जगत की अपेक्षा कवि के भाव-जगत की विशिष्टता पर अधिष्ठित है अर्थात प्रतीकवादी कवि अपने बिंब-विधान में अपने हृदय के क्लिष्ट भावों का आरोप कर देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के बिंब पाठक केलिए दुरूह ही होंगे। आधुनिक प्रतीकवादियों के प्रतीकों में नये-नये अर्थ आरोपित होते हैं; वे अर्थ कवि द्वारा प्रदत्त हैं। उनको समझ लेना कवि केलिए भले ही सहज तथा सरल हो, पर पाठक केलिए नहीं। इस कारण प्रतीकवादी कविता सामान्य पाठक से प्रायः दूर रहती है।

(7) अस्तित्ववादः-

प्रकृति का यह नियम हैकि प्रत्येक सकारात्मक वस्तु के साथ किसी न किसी नकारात्मक वस्तु का द्वंद्व चलता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप एक नयी वस्तु का आविर्भाव या विकास होता है। इसी सिद्धान्त को हीगल ने यों प्रस्तुत किया है-प्रत्येक वाद के साथ किसी प्रतिवाद का संघर्ष होता है जिससे एक समवाद का विकास होता है। यह प्रथम दोनों का समन्वित रूप होता

है। अस्तित्ववाद भी कदाचित् इसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम है। उन्नीसवीं सदी में विभिन्न प्रकार के आविष्कारों एवं सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण मानव जीवन पर वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का प्रभाव बहुत अधिक बढने लगा। इसके सम्मुख व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतंत्रता उपेक्षित होने लगी तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में एक ऐसे वाद का विकास हुआ जो व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्व देता हुआ वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है। यही वाद दर्शन एवं कला के क्षेत्र में अस्तित्ववाद के नाम से प्रसिद्ध है।

अस्तित्ववादी विचारों के मूल प्रवर्तक डेनिश विद्वान सारन काकगार्ड थे, जिन्होंने अपने ग्रंथों की रचना डेनिश भाषा में की थी। आगे चलकर प्रथम महायुद्ध के आस-पास उनके ग्रंथों का अनुवाद जर्मन भाषा में हुआ तथा इसी समय इनका प्रचलन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आरंभ हुआ। खासकर जर्मन एवं फ्रान्स के अनेक चिंतकों एवं साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी विचारों को अपनाते हुए उनकी अपनी अपनी दृष्टि से व्याख्यायें की है। इन विद्वानों में सार्त्रे, कामू आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अस्तित्ववादी विचार-धारा का आधारभूत शब्द अस्तित्व है। इस वाद के अनुयायी विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्व देते हैं। इसीसे वे अस्तित्ववादी कहलाते हैं। परंपरागत आदर्शवादियों के अनुसार विचार, तत्व, सार, सिद्धांत या सामान्य निषकर्ष ही सर्वोगीण सत्य एवं शाश्वत सत्ता के प्रतिनिधि हैं जब कि भौतिक पदार्थों एवं विशिष्ट प्राणियों की सत्ता क्षणभंगुर होने के कारण मिथ्या है। अस्तित्ववादी इस धारणा का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि जब वस्तु ही नहीं है तो उसका विचार या सार कैसे संभव है?पहले वस्तु का अस्तित्व होगा, तदनंतर उसके संबन्ध में विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण होगा। वस्तुतः सारे विचार या सिद्धान्त व्यक्ति के चिन्तन के परिणाम हैं। पहले चिंतन करने वाला मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तथा उसके पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। अतः व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है, जब कि विचार या सिद्धान्त गौण है। अस्तित्ववादी केलिए अपना अस्तित्व, वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं निजी लक्ष्य का चुनाव जितना महत्वपूर्ण है उतना ही दुःख या वेदना का भोग भी रुचिकर है। इस वेदना के भोग के बिना न तो व्यक्ति को अपनी सत्ता का बोध होता है और न ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सफल हो सकता है।

अस्तित्ववाद के प्रचारकों ने साहित्य के विभिन्न रूपों-मुख्यतः उपन्यास, कहानी आदि के माध्यम से अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव हिन्दी के नये कवियों पर भी पडा है। अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, अशोक वाजपेयी, धर्मवीर भारती आदि की कवितायें अस्तित्ववादी विचार-धाराओं से अनुप्राणित हैं। अस्तित्ववादियों की सीमित वैयक्तिकता, उच्छृंखल स्वतंत्रता, अतीत एवं भविष्य की अस्वीकृत एवं दृष्टि की संकीर्णता ने सचमुच आज के व्यक्ति को एक ऐसे बिन्दु पर खडा कर दिया है जहाँ से वह न पीछे लौट सकता है और न ही आगे बढ सकता है।

(8) अतियथार्थवादः-

आधुनिक कला-चिन्तन में अत्यधिक प्रतिष्ठित विचार-धारा है अतियथार्थवाद। इसका सुत्रपात 1922 ई. के लगभग फ्रांस में हुआ। यह जन्म काल से अंतर्राष्ट्रीय परिधि से संबद्ध रहा। इस आन्दोलन का घोषणा-पत्र फ्रांसीसी कलाकार आंद्रे ब्रेतन ने प्रस्तुत किया था। ये असंदिग्ध रूप से अतियथार्थवाद के भौतिक पक्ष का उपज्ञाता, उद्भावक तथा चिंतक माने जाते हैं। इस वाद के मुख्य समर्थक रहे हैं लुई आरोगोम, हरबट रीड आदि।

आति यथार्थवाद का स्वतंत्र और निश्चित समीक्षा शास्त्र अब तक नहीं बन सका है। फिर भी कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं- इस वाद का मूल उद्देश्य है जडीभूत और रूढिशेष नैतिक मान्यताओं का दृढ़ विरोध। चिराचरित नैतिक मान्यताओं तथा गिरी हुई परंपराओं से मुक्ति इसका परम काम्य है। पूंजीवादी एवं सामंतवादी व्यवस्था के विरोध की दृष्टि से इसकी समानता साम्यवाद के साथ है। परन्तु यह समानता लक्ष्य साम्य तक ही सीमित है। अतियथार्थवाद पूंजीवाद का विरोध मानसिक धरातल पर करता है। यह व्यवस्था से अधिक अव्यवस्था की शक्ति पर विश्वास रखता है। इसका मूल दृष्टिकोण नास्तिक है। कला के अभिव्यक्ति पक्ष के संबन्ध में इस वाद की कुछ निश्चित मान्यतायें हैं। यह स्वतः चालित लेखन को विशेष महत्व देता है। इसलिए वह अभिव्यक्ति को आशु और अकृत्रिम बनाना चाहते है। तार्किक नियंत्रण का अभाव, विशुद्ध मानसिक स्वतः चालन ये दोनों अतियथार्थवाद की मुख्य बातें हैं।

विषय और विधान दोनों की दृष्टि से अतियथार्थवाद में व्यवस्था का अभाव है। वस्तुतः यह वाद कुछ अर्थों में रोमान्टिक सिद्धान्तों की पुनःस्वीकृति है। अतियथार्थवाद हीगल के विचार दर्शन का ऋणी है।

अभ्यासः-टिप्पणियाँ लिखिएः-

(1) आदर्शवाद और यथार्थवाद (2) नियोक्लासिज़्म, (3) नियो रोमान्टिसिज़्म, (4) साहित्य में मनोविशलेषण वाद,(5) रहस्यवाद, (6) छायावाद, (7) हालावाद, (8) प्रगतिवाद, (9) प्रयोगवाद, (10) बिंबवाद।

Model Question Paper

M. A.(FINAL) Degree Examination, April-2003-04.

HINDI

Paper VI-Literary Criticism, Prosody and Poetics.

Time:Three Hours. Maximum:125 marks

खण्ड अ

1. नाटक को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

काव्य की परिभाषा देते हुए ललित कलाओं में काव्य-कला का स्थान निर्धारित कीजिए।

(15 Marks)

II. किन्हीं छः पर टिप्पणियाँ लिखिएः-

1. उपन्यास और कहानी में अंतर।
2. काव्य-प्रयोजन।
3. श्लेष।
4. उत्प्रेक्षा।
5. चौपाई।
6. मन्दाक्रान्ता।
7. लक्षणा शक्ति।
8. रसावयव।
9. काव्य-दोष।
10. मुक्त छंद।

(6 x 5 =30 Marks)

खण्ड आ

III. रस की परिभाषा देते हुए रस सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

अथवा

ध्वनि संप्रदाय की विशेषताएँ प्रस्तुत कीजिए। **(16 Marks)**

IV. किन्हीं तीन पर टिप्पणियाँ लिखिएः-

1. काव्य-हेतु।
2. मधुमती भूमिका।
3. साधारणीकरण।
4. रीति और गुण का परस्पर संबन्ध।
5. आलोचक के गुण।
6. औचित्य सिद्धान्त।

(3 x 8 = 24 Marks)

खण्ड इ

V. किसी एक प्रश्न का उत्तर लिखिएः-

1.अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त (अनुकृति सिद्धान्त) का विवेचन कीजिए।

2. वर्डसवर्थ की काव्य संबन्धी मान्यताओं का परिचय दीजिए।

(16 Marks)

VI किन्हीं तीन पर टिप्पणियाँ लिखिएः-

1. क्रोचे का अभिव्यंजनावाद।
2. लोंजाइनस का औदात्य-विवेचन।
3. अति.यथार्थवाद।
4. अनुभूत्यात्मक एकता सिद्धान्त।
5. प्लेटो की उपलब्धियाँ।
6. समीक्षा संबन्धी रिचर्डस की मान्यतायें ।

(3 x 8 =24 Marks)